संक्षिप्त इतिहास

(आदि युग से वर्धमान युग तक)

भाग–१

लेखक

डॉ. तेजसिंह गौड़, एम., ए. पी-एच-डी.

प्रकाशक

जयध्वज प्रकाशन समिति,

मद्रास–१

☐ जयध्वज प्रकाशन समिति ग्रंथमाला : पुष्पांक–६

☐ जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास, भाग - १

☐ लेखक : डॉ. तेजसिंह गौड़

☐ अवतरण : सन् १९८०
विं. सं. २०३७
वीर सं. २५०६

☐ प्रथम संस्करण ५०० प्रतियां

☐ मूल्य : १५) रुपये

☐ प्रकाशक :
जयध्वज प्रकाशन समिति,
मद्रास–१

☐ प्राप्ति स्थान :
(i) पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार
पीपाड़ शहर (राजस्थान)

(ii) श्री अम्बालाल नाबरिया
मु. पो. जवाजा
व्हाया : ब्यावर
जिला-अजमेर (राजस्थान)

☐ मुद्रक :—
साकेत फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस
२४, नमक मंडी, उज्जैन–४५६००६

समर्पण...

परम शान्तमूर्ति,

आगम मर्मज्ञ

काव्य न्याय तीर्थ,

तर्कमनीषी,

परम श्रद्धेय,,

आचार्य प्रवर श्री श्री १००८ श्री जीतमलजी म. सा.

एवं

आगम व्याख्याता,

पंडितरत्न,

काव्यतीर्थ,

साहित्य सूरी,

परमपूज्य

उपाध्याय मुनिश्री लालचंदजी म. सा.

जिनके

पुनीत

आशीर्वाद

और

मार्गदर्शन

से

यह कृति

एतद् आकार ग्रहण कर सकी.

उन्हीं के

पावन कर-कमलों में

सादर समर्पित...

—तेजसिंह गौड़

उत्थानिका

डॉ. तेजसिंह गौड़ द्वारा लिखित 'जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास' शीर्षक ग्रंथ को मैंने अवधानपूर्वक आद्योपान्त देखा है। यह एक वृहद् संकल्प का प्रथम भाग है। भारतीय मेधा के अनुरूप डॉ. गौड़ ने ग्रंथ की संज्ञा उपयुक्त दी है। तीर्थंकारों का इतिहास धर्म का ही इतिहास है। उनके व्याज से उस 'धर्म' का ही इतिहास प्रस्तुत किया जाता है —जो समय समय पर गिरते हुए समाज को धारण करने के लिये प्रादुर्भूत होता है। इसीलिये इनका इतिहास उन देश-काल-घटित व्यक्तियों का इतिहास नहीं है जो अतीत या विस्मृति के गर्त में काल की काली चादर से मुंह ढंक कर सदा सदा के लिये सो जाते हैं। इसीलिये ये तीर्थंकर व्यक्ति के रूप में नहीं, विश्वसत्ता के शाश्वत प्रतिमान के रूप में पूजे जाते हैं। व्यक्ति तो एक मौलिक घटना है —जो जन्म लेता है और मर जाता है —तीर्थंकर जन्म लेता है, पर नष्ट नहीं होता - 'परम्परा' में वह निरन्तर स्पष्ट होता रहता है - रचा जाता है—इसीलिये वह 'भूत' नहीं होता —निरन्तर वर्तमान रहता है, 'सिद्ध' नहीं 'साध्य' रहता है। ऋषभनाथ और महावीर कोरे देश काल की सीमा में घटित एक व्यक्ति होते — तो जाने कब नाम शेष हो गए होते। धर्म नाम शेष हो जाय तो विश्व को धारण कौन करे? देश-काल की सीमा में घटित इनका व्यक्ति रूप आकार वह माध्यम है जिससे विश्व को धारण करने वाला 'धर्म' काल की कठोर आवश्यकतावश प्रकट होता है। इसलिये धर्म का इतिहास तीर्थंकारों का इतिहास है।

एक बात और— इतिहास को भारतीय मेधा ने तिथिबद्ध विदेशी इतिहास पद्धति के रूप में कदाचित कभी नहीं लिया। 'राजतरंगिणी' विदेशी इतिहास पद्धत्ति के आलोक में लिखी गई। वैसे कुछ विद्वान् वेद में भी इस पद्धत्ति का बीज 'नाराशंसी' और गाथाओं में देखते हैं। लेकिन क्या 'महाभारत' इसी पद्धत्ति पर लिखा गया इतिहास है? निश्चय ही वह भूतकाल की घटनाओं का विवरण मात्र नहीं है, प्रत्युत विवरण के ब्याज से मानवधर्म शाश्वत व्यंजना है। 'इतिहास' शब्द की अंतरात्मा भी इस तथ्य को पुष्टि करती है। 'इतिहास' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है — इति+ह+आस= 'ऐसा रहा है' न कि

'ऐसा हुआ था।' आस (अस्—लिट्) पूर्ण वर्तमान का द्योतन करता है। कहते हैं कि भाषा चिन्तन का मूर्तरूप है—भारतीय चिंतन में अस् यानि सत्ता कभी भूत या भविष्य नहीं होती—वह निरन्तर वर्तमान रहती है—इसीलिये 'अस्' धातु का भूत या भविष्य में कोई रूप नहीं होता—'भू' को आदेश रूप में रखकर रूप रचना की प्रक्रिया पूरी कर दी जाती है — यह दूसरी बात है। अभिप्राय यह कि 'इतिहास' हमारे यहां घटना और व्यक्ति की अपेक्षा उनकी तह में विद्यमान शाश्वत मानव धर्म का होता है —तीर्थंकर इसी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतीय परम्परा में 'धर्म' को व्यक्ति से जोड़ना उसकी सदातनता, सर्वकालिकता और सार्वभौमता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाना है। अहिंसा धर्म का स्रोत है —वह अनेक रूपों में प्रवाहित होता आया है और रहेगा। मुनि नथमलजी ठीक कहते हैं कि वह अनादि है, ध्रुव है, नित्य है। यह बात दूसरी है कि सबको धारण करने वाले धर्म का आलोक जब क्षीण होने लगता है, तब कोई विशिष्ट महापुरुष उसको फिर प्रज्वलित करता है और इस प्रकार वह 'व्यक्ति' रूप से न रहकर सदातन वर्तमान 'परम्परा' का अंग बनकर उसी से एकाकार हो जाता है। इतिहास इसी 'परम्परा' का पुनराख्यान है। 'परम्परा' विचार से मनुष्य को नहीं बाँधती, विचार को मनुष्य से बांधती है—इसीलिये वह 'परम्परा' है —परात् परम् है—पर से भी पर है—श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर है —अविच्छिन्न और निरन्तर वर्तमान है —गतिशील है —जड़ और रूढ़ि नहीं। मिलिंद ने कहा कि बुद्ध ने प्राचीन मार्ग को ही खोला है —जो बीच में लुप्त हो गया था। गीताकार कृष्ण ने अपने धर्मोपदेश के विषय में कहा है— "एवम् परम्परा प्राप्तं योगं राजर्षयीः विदुः अर्थात् जिस धर्म का वे आख्यान कर रहे हैं —उसके आद्य उद्गाता वे नहीं हैं —अपितु वह 'परम्परा' से चला आ रहा है। जैन परम्परा भी मानती है कि तीर्थंकर किसी एक देश या काल में नहीं होते। वे समय समय पर आते हैं और आवृत्त होते हुए 'सत्य' का युगोपयोगी आख्यान कर जनमानस को उस ओर प्रेरित करते हैं। 'परम्परा' में एक ही 'सत्य' —जो अनन्त सम्भावनाओं से संवलित है—शब्दभेद से व्यक्त होता रहता है — पर मर्मज्ञ के लिये उसमें अर्थ-भेद नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत कृति धर्म के इतिहास के माध्यम से तीर्थंकर का इतिहास भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में अत्यन्त सटीक रूप में प्रस्तुत करती है। ऐसे उत्तम संकल्प से प्रेरित ग्रंथकार और उसकी कृति —दोनों ही श्लाघास्पद है। साधुवाद।

मातृ नवमी
२-१०-८०

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
कोठी रोड़, उज्जैन

आत्म-कथ्य

सुख और दुःख दो अवस्थाएँ हैं। सुख की अवस्था में मानव प्रसन्नता का अनुभव करते हुए विकास की ओर अग्रसर होता है। दुःखावस्था में वह हताश होता जाता है और अपने आपको अवनति की ओर जाता हुआ अनुभव करता है। सुख-दुःख का यह चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। इसे हम काल-चक्र की संज्ञा भी दे सकते हैं। काल-चक्र को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है — (i) उत्सर्पिणीकाल एवं (ii) अवसर्पिणी काल। इन दोनों काल-चक्रों को पुनः छः छः भागों में विभक्त किया गया है जो 'आरा' कहलाता है। उत्सर्पिणीकाल में दुःख से सुख की ओर गति बढ़ती रहती है तथा अवसर्पिणीकाल में यह गति उलटी होकर सुख से दुःख की ओर अपने कदम बढ़ाती है।

काल-चक्र के इन दोनों कालों में से प्रत्येक के तीसरे और चौथे आरे में २४–२४ तीर्थंकर होते हैं। इस समय अवसर्पिणी काल का पाँचवां आरा चल रहा है। इसके पूर्व के तीसरे और चौथे आरे में चौबीस तीर्थंकरों की परंपरा उपलब्ध होती है। तीर्थंकरों की इस परम्परा के आदि तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव थे जिन्हें भगवान् आदिनाथ के रूप में भी जाना जाता है। इसी परम्परा में अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर विश्ववंद्य भगवान् श्री महावीर हुए।

अब थोड़ा सा विचार 'तीर्थंकर' शब्द पर भी कर लेना उचित होगा। तीर्थंकर शब्द जैन शास्त्रीय और पारिभाषिक भी है। तीर्थंकर का गौरव अतिविशाल और उसकी महिमा शब्दातीत है। इस शब्द की रचना तीर्थ+कर दो पदों के योग से हुई है। यहां 'तीर्थ' शब्द का अर्थ विशिष्ट एवं तकनीकी रूप में ग्राह्य है। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ संघ के रूप में लिया जाता है —संघ जिसे 'धर्म-संघ' कहा जाता है। 'धर्म-संघ' के चार विभाग होते हैं। यथा-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जो इन चारों विभागों का संगठन कर इनका संचालन करता है, वह चतुर्विध संघ की स्थापना करने वाला संस्थापक ही तीर्थंकर है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में जैनमान्यतानुसार कालचक्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उसके बाद भगवान् श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् श्री महावीर स्वामी तक हुए २४ तीर्थंकरों का विवरण लिपिबद्ध किया गया है। इस पुस्तक के लेखन के समय मेरे सामने कुछ बिन्दु थे जैसे पुस्तक की भाषा सरल हो जिसे सामान्य जन भी सरलता से ग्रहण कर सके, पुस्तक संक्षिप्त और शोधपरक हो, तीर्थंकरों से सम्बन्धित विशिष्ट घटनाएं छूटने भी न पाये और उनका इस पुस्तक में समुचित रूप से उपयोग हो। इस प्रकार के प्रतिबंधित घेरे में बैठकर पुस्तक की रचना करना प्रारम्भ में मुझे तो बहुत ही कठिन लगा। किन्तु जब लेखन कार्य प्रारम्भ किया तो सामने आने वाली कठिनाइयां हटती गई और लेखन की गति बढ़ती गई एवं अब परिणामस्वरूप पुस्तक आपके सामने है। पुस्तक कैसी है ? इसका निर्णय विद्वान पाठकों के हाथों में है।

पुस्तक के लेखन में आगम मर्मज्ञ, काव्य, न्यायतीर्थ, तर्कमनीषी, परम-श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री श्री १००८ श्री जीतमल जी म० सा० का आशीर्वाद एवं परम पूज्य आगमव्याख्याता, काव्यतीर्थ, साहित्यसूरी, पंडितरत्न, उपाध्याय मुनिश्री लालचंद जी म० सा० का मार्गदर्शन पू० श्री शुभचन्द्र मुनिजी म० सा०, पू० श्री पार्श्वचन्द्र जी म० सा० का प्रोत्साहन, पू० श्री नूतनचन्द्र मुनि जी म० सा० का पांडुलिपि में संशोधन-परिवर्द्धन करने का अमूल्य सहयोग, पू० श्री गुणवंत मुनिजी म० सा० तथा पू० श्री भद्रेशकुमार मुनिजी म० सा० की ओर से प्रेरणा मिली है, जिसके लिये मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान, प्रख्यात समीक्षक, प्रखर चिंतक, राष्ट्रीय प्राध्यापक श्रीयुत डॉ. राममूर्ति जी त्रिपाठी, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट., आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन का भी कृतज्ञ हूं कि उन्होंने अन्य आवश्यक कार्यों में व्यस्त होते हुए भी पुस्तक की भूमिका (उत्थानिका) लिखने की कृपा की।

यदि जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास का सहयोग नहीं मिला होता तो पुस्तक का प्रकाशन सम्भव नहीं था, समिति के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

श्री रामरत्न जैन ग्रंथालय, उज्जैन के व्यवस्थापक महोदय से संदर्भ ग्रंथों के रूप में पर्याप्त सहयोग मिला है। इसलिए उनके प्रति आभार प्रकट करना

मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक के लेखन में अनेक विद्वान लेखकों के ग्रंथों का उपयोग हुआ है, उन सभी ज्ञात एवं अज्ञात विद्वान लेखकों का भी मैं आभारी हूँ।

आवरण पृष्ठ के कलाकार श्री प्रकाश आर्टिस्ट, केसरगंज, अजमेर ने जिस लगन, निष्ठा एवं स्नेह से डिझाइन बनाई है उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री साकेत फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस उज्जैन के श्री माहेश्वरी बंधु एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं को भी धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने कठिन परिश्रम करके विषम परिस्थितियों में पुस्तक का मुद्रण यथासमय करने में अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया।

अंत में यही निवेदन है कि जिस प्रकार मुझे इस पुस्तक में आशीर्वाद, मार्गदर्शन, सहयोग, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिला, यदि इसी प्रकार भविष्य में भी मिलता रहा तो मैं साहित्य सेवा करने में पीछे नहीं रहूंगा।

पुस्तक में रही कमियों की ओर ध्यान आकर्षित कराने वाले विद्वानों का स्वागत किया जावेगा।

पुस्तक की समस्त अच्छाइयों का श्रेय परमपूज्य श्री आचार्यप्रवरश्री, उपाध्यायमुनिश्री अन्य मुनिगण तथा प्रकाशन समिति को है और पुस्तक में रही प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियों एवं अन्य कमियों के लिये मैं स्वयं उत्तरदायी हूं।

मंगलकामनाओं एवं सहयोग की अपेक्षा के साथ—

विनम्र निवेदक
—तेजसिंह गौड़

छोटा बाजार, उन्हेल
जिला उज्जैन (म०प्र०)
३० अक्टूबर १६८०

प्रकाशकीय

साहित्य का लेखन-कार्य दुष्कर है, उसमें भी इतिहास का लेखन-कार्य तो सर्वाधिक कठिन है। इतिहास का विषय न केवल कहानी-किस्सों की तरह रोचक ही है अपितु अतीत के शाश्वतिक तथ्यों का उद्घाटक होने के कारण महत्त्वपूर्ण भी है। इसमें न केवल सन्-संवतों एवं तात्कालिक शासनाधीशों के उत्थान-पतन का संकलन-मात्र होता है अपितु तात्कालिक राजनैतिक-सामाजिक स्थितियों एवं सांस्कृतिक परिवेश का विस्तृत दिग्दर्शन भी होता है। जैनधर्म के इतिहास की धारा का उद्गम शास्त्रीय दृष्टि से अनादि है और अनंत चौवीसियाँ उसमें समाहित हैं।

फिर भी आज जब हम जैन इतिहास के लेखन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य वर्तमान चौबीसी (२४ तीर्थंकरों) के जीवन-वृत्तांत के एवं शासनपति वर्धमान (श्री महावीर भगवान्) के उत्तरकालीन इतिहास के आकलन से रहता है। अब तक जैनधर्म के इतिहास से संबंधित अनेक ग्रंथों व पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है, पर देखने में यह आया है कि या तो उनका कलेवर इतना बड़ा है कि उससे जनसाधारण लाभान्वित नहीं हो सका या फिर इतना छोटा कि वह बच्चों की कहानियां मात्र बन कर रह गया।

इन्हीं बातों को दृष्टिकोण में रख कर 'जयध्वज प्रकाशन समिति' ने यह निर्णय लिया कि जैन धर्म के इतिहास से संबंधित एक ऐसी पुस्तक का खंडशः प्रकाशन किया जाये जिससे सर्वसाधारण लाभ उठा सके। उसी योजना के क्रियान्वयन में समिति के प्रकाशन का यह नवम ग्रंथ-रत्न 'जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास भाग— १ (आदि युग से वर्धमान युग तक)' जिज्ञासु पाठकों के कर-कमलों में है।

ग्रंथ-ग्रंथन व प्रकाशन का समस्त कार्य स्वल्प समय में संपन्न किया है —डॉ. तेजसिंह गौड़ (उन्हेल) ने, जो कि इतिहास विषय के अच्छे ज्ञाता है। जैन ज्योतिष एवं जैन आयुर्वेद के परंपरात्मक इतिहास का आकलन आपने बड़ी ही संक्षिप्त एवं सारपूर्ण रीति से किया है। इसके अतिरिक्त आपने

अपना शोध-प्रबंध भी जैन इतिहास के विषय पर ही लिखा है। समिति पूर्ण-रूपेण विश्वस्त है कि डॉ. गौड़ प्रस्तुत इतिहास की अधूरी कड़ियों को संनिकट भविष्य में ही पूरा करने में सक्षम होंगे।

ग्रंथ की उपयोगिता का निर्णय सुयोग्य पाठक ही करेंगे और उन्हीं के निर्णय से समिति इस ग्रंथ के प्रकाशन की सफलता का मूल्यांकन कर सकेगी।

निवेदक
सुगालचंद सिंधी
मंत्री :
जयध्वज प्रकाशन समिति,

१५१, ट्रिप्लिकेन हाई रोड
मद्रास-६००००५
दिनांक : २६ अक्टूबर १६८०

जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास भाग-१

विषयानुक्रमणिका

.. काल चक्र

जैन तत्व दर्शन के छह द्रव्यों में से एक द्रव्य काल है। काल की प्रमुख विशेषता अन्य द्रव्यों की पर्यायों को परिवर्तित करना है। वैसे द्रव्य स्वयं ही अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन करते हैं फिर भी उनके इस परिवर्तन का कुछ वाहरी कारण होता है। यह वाहरी कारण ही काल है।[1]

जैन धर्म में काल को दो भागों में विभक्त किया गया है – (१) व्यवहार काल और (२) निश्चय काल।

प्रचलन में व्यवहारकाल की सबसे बड़ी इकाई कल्प है। सैद्धांतिक दृष्टि से तो पुद्गलपरावर्त है जिसके भी सूक्ष्म और वादर दो भेद हैं। कल्प जो बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का बताया गया है,[2] वैसे तो उस वादर पुद्गल परावर्त में अनंत होते हैं और सूक्ष्म में अनन्त-अनन्त भी होते हैं। व्यवहारकाल की सबसे छोटी इकाई समय है : ऐसे असंख्य समय की एक 'आवलिका' होती है। संख्याता आवलिकाओं का 'मुहूर्त' होता है। तीस मुहूर्तों का एक दिन होता है, पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है, दो पक्षों का एक 'मास' होता है, बारह मासों का एक 'वर्ष' होता है। ऐसे ही असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है।

कल्प को दो समान भागों में विभक्त किया गया है। एक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी। इन दो भागों में प्रत्येक भाग दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम काल का होता है। कल्प के इन दोनों अर्धांशों को पुनः छह उपविभागों में निम्नानुसार विभक्त किया गया है[3] —

अवसर्पिणी काल

१– सुषमा-सुषमा	—	चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम
२– सुषमा	—	तीन कोड़ा कोड़ी सागरोपम

१. सर्वार्थ. ५।२१
२. तिलोय. ४।३१५-१६
३. तिलोय. ४।३१६-१८
सर्वार्थ. ३।२७

१. काल चक्र

जैन तत्व दर्शन के छह द्रव्यों में से एक द्रव्य काल है। काल की प्रमुख विशेषता अन्य द्रव्यों की पर्यायों को परिवर्तित करना है। वैसे द्रव्य स्वयं ही अपनी अवस्थाओं में परिवर्तन करते हैं फिर भी उनके इस परिवर्तन का कुछ बाहरी कारण होता है। यह बाहरी कारण ही काल है।[1]

जैन धर्म में काल को दो भागों में विभक्त किया गया है — (१) व्यवहार काल और (२) निश्चय काल।

प्रचलन में व्यवहारकाल की सबसे बड़ी इकाई कल्प है। सैद्धांतिक दृष्टि से तो पुद्गलपरावर्त है जिसके भी सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं। कल्प जो बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का बताया गया है,[2] वैसे तो उस बादर पुद्गल परावर्त में अनंत होते हैं और सूक्ष्म में अनन्त-अनन्त भी होते हैं। व्यवहारकाल की सबसे छोटी इकाई समय है: ऐसे असंख्य समय की एक 'आवलिका' होती है। संख्याता आवलिकाओं का 'मुहूर्त' होता है। तीस मुहूर्तों का एक दिन होता है, पन्द्रह दिनों का एक पक्ष होता है, दो पक्षों का एक 'मास' होता है, बारह मासों का एक 'वर्ष' होता है। ऐसे ही असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है।

कल्प को दो समान भागों में विभक्त किया गया है। एक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी। इन दो भागों में प्रत्येक भाग दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम काल का होता है। कल्प के इन दोनों अर्धांशों को पुनः छह उपविभागों में निम्नानुसार विभक्त किया गया है[3] —

अवसर्पिणी काल

१— सुषमा-सुषमा	—	चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम
२— सुषमा	—	तीन कोड़ा कोड़ी सागरोपम

१. सर्वार्थ. ५।२१
२. तिलोय. ४।३१५-१६
३. तिलोय. ४।३१६-१९
सर्वार्थ. ३।२७

३– सुषमा-दु:षमा — दो कोड़ा कोड़ी सागरोपम
४– दु:षमा-सुषमा — एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम में ४२००० वर्ष कम
५– दु:षमा — २१००० वर्ष
६– दु:षमा-दु:षमा — २१००० वर्ष

उत्सर्पिणी काल का क्रम अवसर्पिणी काल से ठीक विपरीत क्रम में रहता है। यथा —

उत्सर्पिणीकाल

१– दु:षमा-दु:षमा — २१००० वर्ष
२– दु:षमा — २१००० वर्ष
३– दु:षमा-सुषमा — एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम में ४२००० वर्ष कम
४– सुषमा-दु:षमा — दो कोड़ा कोड़ी सागरोपम
५– सुषमा — तीन कोड़ा कोड़ी सागरोपम
६– सुषमा-सुषमा — चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम

इस प्रकार इन दोनों अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालों का एक पूर्ण काल चक्र होता है जो क्रम से सदैव चलता ही रहता है। एक का अवसान दूसरे का प्रवर्तन करता है। इन दोनों अर्धांशों के उपविभाजन को देखने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि एक में मानव जीवन क्षीण होता जाता है तो दूसरे में प्रगति की ओर बढ़ते हुए विकसित होता जाता है।

उपर्युक्त दो भागों के छः उपविभागों को भी दो भागों में विभक्त किया गया है। यथा —

(१) अवसर्पिणी काल के प्रथम तीन उपविभाग और उत्सर्पिणी काल के अंतिम तीन उपविभाग जिन्हें भोग-भूमि की संज्ञा दी गई।

(२) अवसर्पिणी काल के अंतिम तीन उपविभाग और उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीन उपविभाग जिन्हें कर्म-भूमि की संज्ञा दी गई।

भोग-भूमि के अन्तर्गत आने वाले सुषमा-सुषमादि तीन काल खण्ड इसलिए भोग-भूमि कहलाते हैं क्योंकि इन काल खण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति ही स्वयं इतनी

सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवनयापन के लिये किसी प्रकार के कृषि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा युद्ध आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। केवल प्रकृति से सहज रूप से प्राप्त पदार्थों का भोग करना ही उनका कार्य रहता है। मनुष्यों को यह भोग सामग्री प्रकृति में स्वाभाविक रूप से पाये जाने वाले कल्पवृक्षों से संकल्प मात्र से प्राप्त हो जाती है।१

कर्म-भूमि के अन्तर्गत जिन दुःषमादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग असि, मषि, कृषि तीन कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

मनुष्य लोक में अमुक क्षेत्रों में भोग भूमियां और कर्म भूमियां शाश्वत रूप में भी पाई जाती हैं किन्तु भरत और ऐरवत नाम से पहचाने जाने वाली भूमियों में से एक इस भरत भूमि के बारे में विचार किया जारहा है।

जैनों के अनुसार वर्तमान कल्पार्ध में कर्म भूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक भगवान् ऋषभदेव थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम कृषि, वाणिज्य, राज्य-शासन, उद्योग, शिल्प आदि जीविकोपार्जन के षट्कर्मों का उपदेश भारतवासियों को दिया था।२

भोग और कर्मप्रधान इन भूमियों का नामोल्लेख यद्यपि पुराण ग्रंथों में भी पाया जाता है तथापि जिस तन्मयता एवं आग्रह से जैनों ने इन शब्दों का प्रयोग तथा इन व्यवस्थाओं का वर्णन किया है वह वहां प्राप्त नहीं होता।३

अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल के छहों उप-विभागों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत है :—

(१) सुषमा-सुषमा काल :—

चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम का यह सुषमा-सुषमा-एकांत सुख वाला प्रथम आरा होता है। यह आरा सबमें श्रेष्ठआरा होता है। इस आरे में पृथ्वी सुन्दर वृक्षों और वनस्पति से हरी-भरी रहती है। अनेकों प्रकार के बहुमूल्य रत्नों की खदानें पृथ्वी की शोभा में अद्वितीय वृद्धि करती है। चारों ओर

१. भारतीय सृष्टि विद्या, पृष्ठ २६
२. वही, पृष्ठ २७
३. भारतीय सृष्टि विद्या, पृष्ठ २७

निर्मल-शीतल-मन्द सुगन्धित वायु का सतत् प्रवाह बना रहता है। सभी प्रकार के द्रव्यों से पृथ्वी परिपूर्ण रहती है। इस समय किसी को भी विषय की लालसा नहीं रहती, चारों ओर सुख और शांति का ही साम्राज्य दिखाई देता है। इस युग (आरे) के मानव का रंगरूप चटकीला होता है, वे सुन्दर और चित्ताकर्षक होते हैं। इस समय रोग और व्याधि का नामोनिशान नहीं होता है। न राजा होते हैं न जाति-पांति के झगड़े होते हैं और न ही किसी प्रकार का कोई भेद भाव दृष्टिगोचर होता है और चींटी आदि क्षुद्र जन्तु भी नहीं होते। संतोष पूर्वक समताभाव से रहना ही इस समय के मानव का मुख्य स्वभाव होता है।

वाणिज्य, व्यापार और व्यवसाय की भी इस युग में कोई आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि इस युग के मानव की समस्त प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती है। समस्त पृथ्वी मण्डल दस प्रकार के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण थी। उस समय के निवासियों को केवल संकल्प करने मात्र से ही मनोवांछित सामग्री प्राप्त हो जाती थी।[1] कल्पवृक्षों के दस[2] प्रकार निम्न लिखित बताये गये हैं :—

१– पानांग कल्पवृक्ष : इनसे सुस्वादु पेय पदार्थों की प्राप्ति होती है।

२– तूर्यांग कल्पवृक्ष : इनसे वाद्ययंत्रों की प्राप्ति होती है।

३– भूषणांग कल्पवृक्ष : इनसे विभिन्न प्रकार के आभरण मिलते हैं।

४– वस्त्रांग कल्पवृक्ष : इनसे उत्तम वस्त्रों की प्राप्ति होती है।

५– भोजनांग कल्पवृक्ष : इनसे सुस्वादु भोजन प्राप्त होता है।

६– आलयांग कल्पवृक्ष : इनसे विशाल भवनों की प्राप्ति हो सकती है।

७– दीपांग कल्पवृक्ष : ये रत्नजड़ित दीपक के समान प्रकाश करते हैं।

८– भाजनांग कल्पवृक्ष : इनसे रत्नजड़ित सुवर्ण पात्रों की प्राप्ति होती है।

९– मालंग कल्पवृक्ष : इनसे पुष्पमालाओं की प्राप्ति होती है।

१०– तेजांग कल्पवृक्ष : ये वृक्ष रात्रि में भी सूर्य के समान प्रकाश करते हैं।

आधुनिक भारत के विहार प्रदेश में सम्प्राप्त पर्यांग जाति के महावृक्षों के जीवाश्मों (फासिल्स) से जैन ग्रंथों में वर्णित कल्पवृक्षों की तुलना की जा

१– तिलोय०, ४।३४१

२– वही० ४।३४१-५४

सकती है। ये वृक्ष सैंकड़ों फीट ऊंचे व कई फीट व्यास के होते थे तथा इनकी प्रकृति भी आधुनिक वनस्पतियों से भिन्न प्रकार की थी ।१

इस काल में मनुष्य जाति का विकास चरमसीमा पर था। इस युग के नर-नारी छह हजार धनुष (छह मील) ऊंचे होते थे। उनकी रीढ़ में २५६ अस्थियां होती थीं। उनमें नौ हजार हाथियों के बराबर शक्ति थी और उनकी आयु तीन पल्य थी ।२

इस युग का मानव चिर युवा, सुन्दर, सौम्य व मृदु स्वभाववाला तथा स्वर्ण वर्णवाला होता था। विशाल शरीर का स्वामी होते हुए भी वह स्वल्पाहारी था। ऐसा कहा जाता है कि तीन दिन में केवल एक बेर फल के तुल्य आहार ग्रहण करता था जो उसे कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाता था। इस युग का मानव मलमूत्र रहित था।3 ऐसी किंवदन्ती है किन्तु जहां आहार है वहां निहार होता ही है। निहार के अभाव का आहार तो केवल गर्भस्थ शिशु के ही होता है।

इस आरे में जब माता-पिता की आयु के पिछले छः मास शेष रह जाते हैं तब उस सौभाग्यवती स्त्री की कुक्षि से पुत्र-पुत्री का एक जोड़ा जन्म लेता है। जिनका ४९ दिन पालन करने के बाद वे एक युवा की भांति समझदार हो जाते हैं और दम्पती बन सुखोपभोगानुभव करते हुए विचरते हैं। युगल-युगलनी का क्षण-मात्र के लिए भी वियोग नहीं होता है। मृत्यु के समय स्त्री को जंभाई और पुरुष को छींक आती है। मरकर वे देवगति में जाते है। मृत्यु के बाद उनके शरीर का अग्नि आदि संस्कार नहीं किया जाता। वह स्वयं ही विलुप्त हो जाता है।४ शवों को जंगलों में इधर-उधर रख देना अथवा क्षीर-सागर में प्रक्षेप कर देना ही एकमात्र अन्येष्ठि-क्रिया इस आरे की मानी जाती है।

इस समय मिट्टी का स्वाद भी मिश्री के समान मीठा होता है। इस आरे में बैर नहीं, ईर्ष्या नहीं, जरा (बुढ़ापा) नहीं, रोग नहीं, कुरूप नहीं, परिपूर्ण

१– विकासवाद, पृष्ठ ४१-४३ भारतीय सृष्टि विद्या पृष्ठ २९ से उद्घृत.
२– तिलोय० ४।३३४-३४०
३– तिलोय० ४।३३४-३४०
४– वही, ४।३७५-७७

अंग, उपांग पाकर मानव सुख भोगते हैं। यह सब पूर्व जन्म के दान-पुण्यादि सत्कर्म का ही फल समझना चाहिए।१

इस आरे की समाप्ति पर 'सुषमा' नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होता है।

(२) सुषमा कालः—

चार करोड़ा करोड़ी सागरोपम के 'सुषमा-सुषमा' आरे की समाप्ति के बाद तीन करोड़ा करोड़ी सागरोपम का 'सुषमा' अर्थात् केवल सुख वाला दूसरा आरा प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस आरे की स्थिति भी प्रायः प्रथम आरे की स्थिति के समान ही होती है तथापि अवसर्पिणीकाल के प्रभाव से शनैः शनैः मानव जीवन ह्रसोन्मुख हुआ और सुख की मात्रा में कमी आई। दूसरे आरे के समस्त मनुष्यों की ऊंचाई चार हजार धनुष (चार मील) रह गई। आयु घटकर दो पल्योपम हो गई। पृष्ठास्थियों की संख्या १२८ रह जाती है।२ काल के प्रभाव से जैसे जैसे इस आरे की अवधि व्यतीत होती जाती है वैसे वैसे ही इसके सुखों में भी कभी आती जाती है। इस आरे के फल भी इतने रसदार, मधुर और शक्तिदायक नहीं रहते जितने कि पहले आरे में होते थे। इस आरे में दो दिन बाद हीं भोजन करने की इच्छा होती है। शक्ति में भी मनुष्य प्रथम आरे की तुलना में कमजोर हो जाता है। इस युग के मानव की शरीर की प्रकृति में भी परिवर्तन आया।3

मृत्यु के छः महीने जब शेष रहते हैं. तब युगलनी एक पुत्र-पुत्री को जन्म देती है। पुत्र-पुत्री का ६४ दिन पालन किया जाता है। इसके बाद वे (पुत्र-पुत्री) दम्पती बनकर सुखोपभोग करते हुए विचरते हैं। मृत्यु के क्षण पर स्त्री को जंभाई और पुरुष को छींक आती है। मरकर वे देवगति में जाते हैं। इनके मृतक शरीर को क्षीरसागर में डालकर मृतक संस्कार किया जाता है। इस आरे में भी ईर्ष्या नहीं, वैर नहीं, जरा नहीं, रोग नहीं, कुरूप नहीं, परिपूर्ण अंग, उपांग, पाकर सुखोपभोग करते हैं। पृथ्वी का स्वाद शकर जैसा रह जाता हैं।४

१. **जैनागम स्तोक संग्रह. पृ० १४५-४६**
२. **तिलोय. ४।३६६-६७**
३. **भगवान महावीर का जीवन पृ० १२**
४. **जैनागम स्तोक संग्रह, पृ० १४७**

इस 'सुषमा' नामक आरे की समाप्ति के बाद अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा 'सुषमा-दुःषमा' प्रारम्भ होता है।

(३) सुषमा-दुःषमाकालः-

यह आरा शुभ और अशुभ सुषमा-दुःषमा अर्थात् सुख बहुत दुःख थोड़ा होता है। इसकी अवधि दो करोड़ा करोड़ी सागरोपम मानी गयी है। इस आरे के प्रारम्भ में मनुष्यों का देहमान दो मील, आयु एक पल्य और पृष्ठास्थियों की संख्या ६४ होती है। भूख मनुष्य को अब प्रतिदिन लगती है किंतु आहार फलों का ही किया जाता है। बालक भी अपने जन्म दिन के उन्यासी दिन के पश्चात सबल और सज्ञान हो जाते हैं। कल्पवृक्ष भी अब सूखे से दिखाई पड़ने लगते है। अब उनमें पहले की भांति फल भी नहीं मिलते, उनकी मधुरता, स्वाद और मनहरणता सभी बातों में पूर्वापेक्षा पर्याप्त अन्तर आ गया है। जैसे जैसे इस आरे का समय व्यतीत होता जाता है, वैसे ही मनुष्यों के सद्गुणों में भी कमी होती चली जाती है। लोभ का जन्म हो जाता है जिसके कारण मनुष्य दुःख उठाते है। मनुष्यों की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन आ जाता है जिससे व्यवस्था स्थापित करने के लिए नियमों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगती है। अब ऐसे मनुष्य की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है जिसने सब लोग डरते रहें और जो सबसे अधिक शक्तिशाली और सज्ञान भी हो, इतना ही नहीं, वह बुरे और मलिन कार्य करके समाज की शांति भंग करने वालों को समुचित दण्ड दे सके।[1]

पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा रह जाता है। पुत्र-पुत्री का पालन उन्यासी दिन करने के उपरांत माता-पिता मरकर देवगति में जाते हैं। अंतिम क्रिया वैसी ही होती है जैसी कि प्रथम एवं द्वितीय आरे में होती है।

इस आरे के तीन भाग होते हैं। पहले दो भागों का व्यवहार प्रायः पहले दूसरे आरे के समान ही चलता है। अन्तिम तीसरे भाग में कर्मभूमि की नींव लगती है। तीसरे भाग में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति चारों ही गतियों में जाते हैं।

राजाओं की उत्पत्ति और राज्यों की नींव इसी युग में पड़ती है। विभिन्न प्रकार के कानूनों की रचना भी होती है। अत्याचारी, अन्यायी और आततायी

१. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ० १२-१३

लोग भांति-भांति के राजदण्डों से समय समय पर दण्डित किये जाते हैं। लोग पाप-पुण्य से परिचित हो जाते हैं। दान देने की प्रथा भी इसी युग से प्रारम्भ होती है। विभिन्न प्रकार की कलाओं और विद्याओं का पता भी इसी युग में लगाया जाता है जिसके प्रशिक्षण की व्यवस्था स्थान स्थान पर राजा द्वारा की जाती है। विधि-विधान के साथ विवाह प्रथा का प्रचलन भी इसी युग में होता है। तीसरे आरे के उत्तरार्द्ध में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हुए और पूर्वोक्त कही गयी समस्त व्यवस्था का प्रारम्भ किया।

इस प्रकार अवसर्पिणी काल के प्रथम तीन काल-खण्ड जिन्हें भोग भूमि की भी संज्ञा दी जाती है, व्यतीत होने पर कर्म भूमि का प्रारम्भ होता है। भोग भूमि काल के अंत में जो सर्वप्रथम और भयंकर परिवर्तन इस भूमि के भोले निवासियों ने देखा वह था सूर्य तथा चन्द्रमा का उदय।[१] यहां यह संदेह सहज ही किया जा सकता है कि क्या चन्द्रमा और सूर्य इसके पूर्व नहीं थे? इसके सम्बन्ध में जैन रचनाकारों का कथन है कि सूर्य और चन्द्रमा तो उनके दिखाई देने के पूर्व से ही विद्यमान थे, वे पृथ्वी पर स्थित कल्पवृक्षों के महान तेज एवं सघनता के कारण सूर्य चन्द्र की रश्मियां एवं मण्डल पृथ्वी के निवासियों को दिखाई नहीं देते थे।[२] अर्थात् उधर ध्यान ही नहीं गया था।

जैन लोक ग्रंथों एवं पुराणों के अनुसार उपर्युक्त भोग-भूमि के अंतिम चरण में इस भूमि पर भयंकर एवं युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं भयभीत मानव जाति को इन परिवर्तनों के अनुकूल समंजित होने का उपदेश देने वाले कुछ महापुरुष भी तब वहां उत्पन्न होते हैं। जैन ग्रंथों में इन्हें कुलकर कहा जाता है।[3] ये कुलकर कितने हुए? इनकी संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। स्थानांग,[४] समयवायांग,[५] भगवती,[६] आवश्यक चूर्णि,[७] आवश्यक निर्युक्ति[८] तथा त्रिषष्टि-

१. तिलोय० ४।४२३–२४
२. तिलोय० ४।४२७
३. भारतीय सृष्टि विद्या, पृ० ३२-३३
४. स्थानांग सूत्र वृत्ति सू० ७६७ पत्र ५१८
५. समवायांग १५७
६. भगवती० श० ५ उद्दे० ६ सू० ३
७. आवश्यक चूर्णि पत्र १२६
८. आवश्यक निर्युक्ति मल० व० गा० १५२ पृ०

शलाका पुरुष चरित्र[1] में सात कुलकरों के नाम मिलते हैं। जबकि पउमचरियं[2] महापुराण[3] और सिद्धांत संग्रह[4] में चौदह और जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति[5] में पन्द्रह नाम मिलते हैं। यह अन्तर क्यों है ? इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुलकरों को आदि पुराण में मनु कहा गया है।[6] वैदिक साहित्य में कुलकारों के स्थान पर 'मनु' शब्द का उपयोग मिलता है और वहां भी संख्या भेद है। अवसर्पिणी के तीसरे आरे के उतरने के समय में और उत्सर्पिणी के भी तीसरे आरे के उतरने के समय में कुल पन्द्रह पन्द्रह कुलकारों के होने का वर्णन है।

४ दुःषमा—सुषमा काल :

दो करोड़ा—करोड़ी सागरोपम के तीसरे आरे की ठीक समाप्ति के साथ ही इस चौथे आरे का प्रवर्तन होता है। इसमें दुःख अधिक और सुख कम होता है। इसकी अवधि एक करोड़ा—करोड़ी में ४२००० वर्ष कम होती है। इस समय प्रारम्भ में मनुष्यों की अधिकतम ऊंचाई ५२५ धनुष, आयु एक पूर्वकोटि तथा पृष्ठास्थियों की संख्या ६४ होती है।[7]

जैनागम स्तोक संग्रह[8] में लिखा है कि पहले से वर्ण, गंध, रस स्पर्श पुद्‌गलों की उत्तमता में हीनता हो जाती है। क्रम से घटते घटते मनुष्यों का देहमान ५०० धनुष का व आयुष्य करोड़ा—करोड़ी पूर्व का रह जाता है। उतरते आरे सात हाथ का देहमान व २०० वर्ष में कुछ कम का आयुष्य रह जाता है। इस आरे में संघयन छः, संस्थान छः व मनुष्यों के शरीर में ३२ पांसलिये, उतरते आरे केवल १६ पांसलिये रह जाती है।

१. त्रिषष्टि० पर्व १ स० १ श्लोक १४२—२०६
२. पउम० उ० ३ श्लो० ५०—५५
३. महापु० जिन० प्र० मा० तृतीय पर्व श्लोक २२६—२३२ पृ० ६६
४. सिद्धांत संग्रह पृ० १८
५. जम्बू० पन्न० १३२
६. आदिपुराण ३।१५
७. तिलोय० ४।१५०५
८. पृष्ठ, १४६

इस आरे में कल्पवृक्ष कहीं भी नहीं दिखाई देते हैं। इस युग के मनुष्य भूख से सदैव त्रस्त रहते हैं। वे प्रतिदिन खाते हैं किन्तु पुनः पुनः उन्हें भोजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस युग का मानव श्रमजीवी हो जाता है। भोजन अब साधारण फलों का रह जाता है। दुःख, रोग, शोक, संताप, भय, मोह, लोभ, मात्सर्य आदि में पूर्वापेक्षा अधिक वृद्धि हो जाती है। लोगों में भय और चोरी छिपे पापकर्म करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। विभिन्न प्रकार की कलाओं और विद्याओं की शोध भी इसी युग में होती है। दान देने की प्रवृत्ति में भी वृद्धि हो जाती है। स्वर्ग-नरक की भावना भी लोगों के मन में इसी समय बलवती होती है। भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर शेष सभी तेइस तीर्थंकर इसी आरे में हुए।[1]

(५) दुःषमा काल :

चौथे आरे की समाप्ति पर २१००० वर्ष की अवधि वाला पांचवां दुःख-वाला आरा आरम्भ होता है। इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की उत्तम पर्यायों में पूर्व की अपेक्षा अनन्त गुणहीनता हो जाती है। देहमान घटते घटते सात हाथ ऊंचाई का रह जाता है। आयु १२० वर्ष तथा मेरूदण्ड में अस्थि संख्या २४ होती है।[2] मनुष्यों को इस आरे में दिन में दो समय आहार की इच्छा होती है, तब शरीर प्रमाणे आहार करते हैं। पृथ्वी का स्वाद कुछ ठीक जानना व उतरते आरे कुम्हार की मिट्टी की राख समान होता है।[3] पांचवां आरा अभी चल रहा है। इस आरे के २५०२ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं तथा १८४९८ वर्ष और शेष हैं। जैसे जैसे इस आरे की अवधि व्यतीत होती जाती है, वैसे वैसे ही प्रत्येक वस्तु की सुन्दरता, स्निग्धता और रूप-रंग आदि भी कम होते जाते हैं। इस प्रकार जलवायु में भी परिवर्तन आ जाता है। कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है। अब पृथ्वी में वह रस नहीं रहा। उसकी बहुमूल्य रत्नों आदि की खदानें प्रायः नष्ट हो चुकी हैं। गज मुक्ता, मणियां और पारस आदि का इस युग में कहीं पता नहीं रहता। परिवार के सभी व्यक्ति दिन-रात कठोर परिश्रम करते हैं फिर भी अपनी न्यूनतम आवश्य-

१. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृष्ठ १३
२. तिलोय० ४।१४७५
३. जैनागम स्तोक संग्रह, पृष्ठ १५२

कताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। आशा और तृष्णा में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। इस युग के मनुष्य केवल पेट की पूर्ति करने की क्रिया में ही जीवन की इतिश्री समझते हैं। इस आरे में काले, गोरे, पीले और जाति-पांति का संघर्ष चारों ओर दिखाई देता है। छुआछूत का भी बोलबाला रहता है। वृक्षों और फलों की कमी के कारण लोग अन्न और उनसे निर्मित विभिन्न व्यंजन सामग्री का सेवन करते हैं। विभिन्न स्वाद की सामग्री खा-खाकर लोग भांति-भांति के रोगों में फसते हैं और फिर उनके उपचार के लिये तरह तरह की औषधियों का सेवन करते हैं। इनसे रोग घटते तो नहीं हैं वरन् उनमें और वृद्धि होती जाती है। भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय सभी प्रकार के खान-पानों का इस आरे में बोल-बाला रहता है। प्राणियों के आमिषादि में उन उन प्राणियों के रोगाणु भी उनको खाने वालों में रोगाणुओं की वृद्धि करते हैं।

इस आरे में दान देने की प्रथा में परिवर्तन हो जाता है। अपना नाम हो तथा सम्मान मिले केवल इसी बात को ध्यान में रखकर लोग दान करते हैं। आस्तिकता के स्थान पर अब नास्तिकता चारों ओर अपनी जड़ें जमाते दिखाई देती है। अज्ञान, मोह और स्वार्थ का बोलबाला है। सचाई, सदाचार और सद्गुणों का लोप होता जा रहा है। रोग, भय, शोक चारों ओर व्याप्त है। दुष्काल का प्रभाव भयंकर रूप से दिखाई देता है। शक्तिशाली-शक्तिहीन को दबाने में लगा है और इसी में अपनी शोभा और मर्यादा समझता है। चारों ओर छल, कपट, प्रपंच और पाप का साम्राज्य दिखाई देता है। संयम कहीं दिखाई नहीं देता। मनुष्यों में व्यभिचार की प्रवृत्ति बुरी तरह बढ़ी हुई दिखाई देती है। राजा भी तुच्छ लोभ के वशीभूत होकर युद्ध आरम्भ कर देते हैं। प्रजा के धन और प्राणों का अपहरण करना उनके लिये सामान्य बात हो जाती है। राजा अपनी आय का अधिकांश भाग अपने विलास पर व्यय करता है तथा व्यय की पूर्ति के लिये जनता पर नाना प्रकार के करारोपण करता है।

इस आरे के अन्त होते-होते धर्म-नीति समाप्त हो जाती है। वृक्ष सूख जाते हैं। वर्षों तक वर्षा नहीं होती, खेतों में बोया हुआ अनाज खेतों में ही सूर्य की गर्मी से भुन जाता है। लोग अन्न पानी के लिये त्राहि-त्राहि करते हैं। अन्न-पानी के अभाव में लोगों में भोगेच्छा बलवती हो जाती है और तब सभी प्रकार के नाते रिश्ते समाप्त हो जाते हैं। अपनी वासनापूर्ति में समय भी नहीं देखते हैं। सन्तान वृद्धि भी कीड़े-मकोड़ों की भांति होती है। जैसे जल्दी-जल्दी जन्म

होता है, वैसे ही मृत्यु भी होती है। बादल जलवृष्टि के स्थान पर विद्युत-धाराओं की वृष्टि करते हैं जिससे वृक्ष जल कर ठूंठ बन जाते हैं। आंधी तूफान आते हैं और मकानादि गिर-गिर कर खंडहर बनते जाते हैं। इनके नीचे दब-कर मनुष्य कीड़े मकोड़ों की भांति मरते हैं। चारों ओर विनाश लीला देखने को मिलती है। विद्याओं और कलाओं का लोप हो जाता है। राजक्रांतियां बढ़ने लगती हैं। सत्ता का भय लोगों को नहीं होता है। धर्म को ढकोसला माना जाता है। दान-पुण्य समाप्त हो जाता है। नदियां भी सूख जाती हैं। जलाशय भी सूखकर रेगिस्तान जैसे बन जाते हैं। समुद्रों की सीमा भी अपनी मर्यादा में नहीं रहती। सारांश में कहने का तात्पर्य यह है कि यह आरा सब आरों से दुःखदाई और पाप-प्रवर्तक होता है। इस आरे के अन्त में साधु-संतों का नाम भी कहीं सुनने को नहीं मिलता। केवल एक साधु, एक साध्वी और उनका एक उपासक, एक उपासिका रह जायेंगे जो इस आरे की समाप्ति के साथ ही स्वर्ग में चले जावेंगे।[1] एक साधु, एक साध्वी, एक उपासक, एक उपासिका ये चारों तो उस वक्त तक एकभव करके मोक्ष जाने वाले रहेंगे।

मोक्ष-गति को छोड़कर पांचवे आरे के लक्षण के बत्तीस बोल निम्नानुसार हैं—

१. नगर गांव जैसे होवे।
२. ग्राम श्मशान जैसे होवे।
३. सुकुलोत्पन्न दास-दासी होवे।
४. प्रधानमंत्री लालची होवे।
५. यम जैसे क्रूर दण्डदाता राजा होवे।
६. कुलीन स्त्री दुराचारिणी होवे।
७. कुलीन स्त्री वैश्या-समान कर्म करनेवाली होवे।
८. पिता की आज्ञा भंग करने वाला पुत्र होवे।
९. गुरू की निंदा करने वाला शिष्य होवे।
१०. दुर्जन लोग सुखी होवे।
११. सज्जन लोग दुःखी होवे।
१२. दुर्भिक्ष अकाल बहुत होवे।
१३. सर्प, बिच्छु, दंश मत्कुणादि क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति बहुल होवे।

१. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ. १४-१५ पर आधारित।

१४. ब्राह्मण लोभी होवे ।
१५. हिंसा-धर्म-प्रवृत्तक बहुत होवे ।
१६. एक मत के अनेक मतान्तर होवे ।
१७. मिथ्यात्वी देव बहुत होवे ।
१८. मिथ्यात्वी लोगों की वृद्धि होवे ।
१९. लोगों को देव-दर्शन दुर्लभ होवे ।
२०. वैताढ्यगिरि के विद्याधरों की विद्या का प्रभाव मन्द होवे ।
२१. गोरस (दूध, दही, घी) में स्निग्धता कम होवे ।
२२. बैल प्रमुख पशु अल्पायुषी होवे ।
२३. साधु-साध्वियों के मास-कल्प चातुर्मास आदि में रहने योग्य क्षेत्र कम होवे ।
२४. साधु की बारह प्रतिमा व श्रावक की ग्यारह प्रतिमा का पालन नहीं होवे (श्रावक की ग्यारह प्रतिमा का विच्छेद कोई कोई मानते हैं)
२५. गुरू-शिष्य को पढ़ावे नहीं ।
२६. शिष्य अविनीत होवे ।
२७. अधर्मी, क्लेशी, कदाग्रही, धूर्त, दगाबाज व दुष्ट मनुष्य अधिक होवे ।
२८. आचार्य अपने गच्छ व सम्प्रदाय की परम्परा, समाचारी, अलग-अलग प्रारंभ करेंगे तथा मूर्ख मनुष्यों को मोह मिथ्यात्व के जाल में डालेंगे, उत्सूत्र प्ररूपक लोगों को भ्रम में फंसाने वाले, निन्दक, कुबुद्धि व नाममात्र के धर्मीजन होवेंगे व प्रत्येक आचार्य लोगों को अपनी अपनी परम्परा में रखने वाले होवेंगे ।
२९. सरल, भद्र, न्यायी व प्रामाणिक पुरुष कम होवे ।
३०. म्लेच्छ राजा अधिक होवे ।
३१. हिन्दू राजा अल्प बुद्धि वाले व कम होवे ।
३२. सुकुलोत्पन्न राजा नीच कर्म करने वाले होवे ।

इस आरे में केवल लोहे की धातु रहेगी और चर्म की मुद्रा चलेगी जिसके पास ये रहेंगे वे धनवान कहलावेंगें । इस आरे में मनुष्यों को उपवास, मास-खमण के समान लगेगा । इस आरे की समाप्ति के समय शकेन्द्र आकर कल छठ्ठा आरा लगेगा ऐसी उद्घोषणा करेगा जिसे सुनकर चारों (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) संथारा करेंगे । उस समय संवर्त्तक, महासंवर्त्तक नामक हवा चलेगी जिससे पर्वत, बढ़, कोट, कुवे, बावड़ियां आदि सब नष्ट

हो जावेंगे। केवल (१) वैताढ्य पर्वत (२) गंगा नदी, (३) सिंधु नदी, (४) ऋषभकूट, (५) लवण की खाड़ी ये पांच स्थान बचे रहेंगे। वे चार जीव समाधि परिणाम से काल करके प्रथम देवलोक में जावेंगे पश्चात् चार बोल विच्छेद होवेगे (१) प्रथम प्रहर में गणधर्म, (२) दूसरे प्रहर में पाषंडधर्म के धर्म, (३) तीसरे प्रहर में राजधर्म और (४) चौथे प्रहर में बादर अग्नि एवं (५) जैन धर्म का विच्छेद हो जावेगे। पांचवें आरे के अंत में जीव चार गति में जाते हैं केवल एक पांचवीं मोक्ष गति में नहीं जाते हैं।[1]

(६) दुःषमा–दुषमा काल :

इक्कीस हजार वर्ष अवधि वाले पांचवें आरे की समाप्ति के साथ ही दुःख ही दुःख वाला छठा आरा प्रारम्भ होता है। इसकी अवधि भी इक्कीस हजार वर्ष ही होती है। यह आरा सबसे अधिक निकृष्ट और आदि से अंत तक कलह अशांति, पाप और तापों से परिपूर्ण होता है। मनुष्यों का देहमान क्रम से घटते घटते इस आरे में एक हाथ का, आयुष्य २० वर्ष का उतरते आरे में मूठ कम एक हाथ का व आयुष्य १६ वर्ष का रह जावेगा।[2] मनुष्यों की भांति ही पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि की आयु, ऊंचाई आदि भी पूर्वोक्त काल क्रमानुसार न्यून से न्यून होती जाती है।

जैनागम स्तोक संग्रह[3] के अनुसार इस आरे में संघयन एक सेवार्त्त, संस्थान एक हुंडक उतरते आरे में भी ऐसा ही जानना। मनुष्य के शरीर में आठ पसलियां व उतरते आरे में केवल चार पसलियां रह जावेंगी। इस आरे में छः वर्ष की स्त्री गर्भ धारण करने लगेगी एवं कुत्ती के समान परिवार के साथ विचरण करेगी।

प्राणी जो कुछ बचे हैं वे रात-दिन भूख प्यास से त्रस्त हो त्राहिं त्राहि करते फिरते हैं। वे आठों पहर असहनीय दुःख, शोक, सन्ताप, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, भय, भ्रम और वैरभाव की धधकती हुई आग में तपते रहते है। विश्राम का नाम नहीं जानते हैं।

१. (i) जैनागम स्तोक संग्रह, पृ० ५१२, १५३. १५४ पर आधारित.
   (ii) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पृ० ५५७
२. वही, पृ० १५५
३. पृष्ठ १५५–१५६.

पृथ्वी पर वनस्पति, कृषि आदि समाप्त हो जाती है। सूर्य की गरमी से पृथ्वी गर्म तवे की भांति गरम रहती है। सदैव गर्म और सूखी, झुलसा देने वाली हवाएं बहती हैं। दिन में गर्मी का इतना प्रकोप और रात्रि में प्राणलेवा ठंडक। ऐसे प्राण नाशक काल में एक पल भी निकालना जहां कठिन हो जाता है वहां इस आरे के मनुष्य अपने जन्म-जन्मान्तरों के पाप-कर्मों का भोग भोगने और उनका प्रायश्चित्त करने के लिये एक घड़ी, एक पहर, यों पहर के बाद दिन, दिन के बाद रात और इसी प्रकार मास, वर्ष गिनते हुए अपनी आयु व्यतीत करते हैं। इस काल के मनुष्य चूलहेम पर्वत के ऊंचे प्रदेशों से निकलने वाली गंगा और सिंधु नदियों के किनारे वैताढ्य नामक पर्वत की गुफाओं में ही रहते हैं। वे लोग केवल सूर्योदय और सूर्यास्त के समय उन गुफाओं में से बाहर आकर पेट भरने की चिंता में अपने समीपस्थ नदियों के किनारे घूमते फिरते हैं क्योंकि शेष समय में दिन में गर्मी और रात में सर्दी में वे बाहर नहीं निकल सकते हैं। वे मछलियों आदि के सहारे अपना जीवनयापन करते हैं। इस समय के मनुष्यों की काम-वासनाएं और तीव्र हो जाती हैं। लोग किसी भी प्रकार से अपनी काम-वासना की पूर्ति करने में नहीं चूकते हैं। इस आरे के प्रभाव से अब वे इसे अपना धर्म और कर्म मानते हैं। बड़े से बड़े पाप की ओर उनकी प्रवृत्ति सहज रूप से होती है। सर्वस्वहीन रह जाने पर भी, अहमन्यता का भाव उनमें अति बढ़ा हुआ मिलता है। धर्म का अस्तित्व तो यहां से कभी का समाप्त हो चुका था। वे घिनौने से घिनौने कार्य को भी स्वेच्छा से करते हैं। नाना भांति के पापाचारों के कारण भ्रष्ट और हीन दीन ये लोग अंत में सड़ सड़कर और अनेकों प्रकार के कष्ट उठा उठाकर मरते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस आरे में लोग जन्म से मरण तक घोरतम कष्ट और पापभरा जीवन व्यतीत करते हैं।[1]

जो मनुष्य दान-पुण्य रहित, नमोक्कार रहित, व्रत प्रत्याख्यान रहित होवेंगे केवल वे ही इस आरे में जन्म लेंगे।[2]

अवसर्पिणी काल की भांति उत्सर्पिणी काल में भी कर्म भोग भूम्यात्मक छह विभाग होते हैं। इस काल के प्रारम्भ में विद्यमान कर्मभूमि की निकृष्ट अवस्था काल के प्रभाव से निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हुए अन्ततः भोग

१. भगवान् महावीर का आदर्श, जीवन पृ० १६–१७ पर आधारित।
२. जैनागम स्तोक संग्रह, पृष्ठ १५६

भूमि की उत्कृष्टतम अवस्था-उत्तमभोग-भूमि में परिणत हो जाती है। इस विकासक्रम में विकास को गति देने वाले चौदह मनु तथा ६३-शलाका पुरुष भी अवसर्पिणी की भांति उत्पन्न होते हैं।1

यद्यपि उत्सर्पिणी काल का विकास-क्रम अवसर्पिणी की अपेक्षा पूर्णतः विलोम गति वाला होता है तथापि मन्वन्तरों की स्थिति के सम्बन्ध में वह कुछ भिन्नता लिये होता है। अवसर्पिणी में मन्वन्तरों की स्थिति भोग भूमि एवं कर्म भूमि के ठीक मध्य में होती है जबकि उत्सर्पिणी काल में उनकी स्थिति कर्मभूमि के मध्य में होती है।2

उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीन काल खण्ड जैन ग्रंथों में कर्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। जैनों के अनुसार कर्मभूमि के प्रथम चरण-दुःषमा-दुःषमा या जघन्य कर्मभूमि के प्रथम सात सप्ताहों में जल, दूध, अमृत तथा दिव्य जल वाले मेघ इस भूमि पर उत्तम वृष्टि करते हैं जिससे अवसर्पिणी के अंत में हुई धूम-क्षर वज्रादि रूपा प्रलयंकर महावृष्टि का दुष्ट प्रभाव नष्ट हो जाता है और यह भूमि एक बार फिर से मनुष्य तथा पशु-पक्षियों के साधारण कोटि के जीवन-यापन के योग्य हो जाती है। पृथ्वी पर चारों ओर हरीतिमा छा जाती है और सुखद वायु प्रवाहित होने लगती है जिसका शीतल स्पर्श पाकर गिरि-कन्दरा आदि में शरण लिये हुए प्रलय शिष्ट मनुष्य तथा पशु-पक्षी बाहर आजाते हैं।3 वे आकर भूमि को ऐसी भरी देखकर सभी इकट्ठे होकर आमिषाहार एवं कलह आदि अवांछनीय कार्य न करने की प्रतिज्ञा लेते हैं। इन मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले के लिये कठोराति-कठोर दण्ड उसकी छाया तक को अस्पृश्य मानने के रूप में दिया जायेगा। यह निर्णय भादवा सुद पंचमी को लिया जाता है। इसी कारण साम्वत्सरिक पर्वाधिराज के रूप में मनाया जाता है।

जैन ग्रंथों में कर्म भूमि के मध्यान्ह में उत्पन्न होने वाले कनक, कनकप्रभ, कनकराज, कनकध्वज, कनकपुंख, नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराज, नलिनध्वज, नलिनपुंख, पद्मप्रभ, पद्मराज, पद्मध्वज, तथा पद्मपुंख इन चौदह मनुओं

१– **भारतीय सृष्टि विद्या पृ० ४६**
२– **वही, पृष्ठ ४६**
३– **भारतीय सृष्टि०** ४६-४७, **तिलोय-४।१५५८-६१ एवं उत्तर पुराण** ७६।४५३-५६.

की उत्पत्ति की भविष्यवाणी की गई है। ये चौदह मनु एक हजार वर्ष के अनथक परिश्रम के द्वारा लोगों को आग जलाना, उस पर भोजन पकाना, वस्त्र धारण करना, तथा विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करना सिखलायेंगे। ये १४ मनु सभ्यता के अग्रदूत एवं सम्पादक होंगे। इनके पश्चात धर्म और संस्कृति के प्राण चौबीस तीर्थंकर जन्म लेंगे जो लोगों को परम पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करेंगे। उसके पश्चात भोग भूमि की प्राकृतिक स्थिति सख्यातीत काल के लिए प्रतिष्ठित हो जावेगी।१

कर्मभूमि से भोग-भूमि की स्थिति में पहुंचने पर सभी प्रकार के कष्ट एवं झगड़े स्वतः समाप्त हो जावेंगे। इस प्रकार यह चक्र सदैव अनवरत चलता ही रहता है। इसीलिए कहा है कि यह संसार अनादि अनंत है। न तो इसका किसी ने निर्माण किया है और न यह कभी नष्ट ही होता है। बस, केवल इसकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है।

हुण्डावसर्पिणी:--

काल के असंख्य उत्सर्पणों तथा अवसर्पणों के उपरांत उसकी यांत्रिक गति में थोड़ा-सा व्यतिक्रम आता है। वह व्यतिक्रम किसी एक अवसर्पिणीकाल में अभिव्यक्ति होता है। वह व्यतिक्रांत अवसर्पिणी काल जैन ग्रंथों में हुण्डावसर्पिणी के नाम से प्रसिद्ध है।२

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल भी हुण्डावसर्पिणी है क्योंकि इस काल में सुषमा-दुःषमा (तृतीय काल) अवशिष्ट रहने पर भी दुःषमा-सुषमा (चतुर्थकाल) की प्रवृत्ति जन्य वर्षा तथा विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो गई थी। पुनश्च बाहुबलि जैसे साधारण राजा द्वारा भरत जैसे चक्रवर्ती की पराजय तीर्थंकारों के तपबल में उन पर नाना प्रकार के उपसर्ग, तीर्थंकारों के धर्म का समय समय पर विलोप तथा कल्कि-उपकल्कि आदि धर्म द्वेषी नरेशों की उत्पत्ति इस व्यतिक्रमण की साक्षी है।3 अन्य अवसर्पिणों में इस प्रकार के अपवाद या व्यतिक्रमण नहीं होते।

(१) १. भारतीय सृष्टि विद्या, पृ० ४७
   २. तिलोय० ४।१५७०-७१, ४।१५६९-७५

(२) भारतीय सृष्टि० पृ० ४८

(३) १. भारतीय सृष्टि० पृ० ४८
   २. तिलोय० ४।१६१३-१४.

२. भगवान् श्री ऋषभदेव (चिह्न—वृषभ)

जब किसी महापुरुष के वर्तमान का मूल्यांकन करना होता है तो उसके पूर्व यह आवश्यक होता है कि उसके भूतकाल पर भी दृष्टि डाली जावे। इस दृष्टि से यदि हम भगवान् श्री ऋषभदेव के जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी पृष्ठभूमि पर भी विचार करें क्योंकि भगवान् श्री ऋषभदेव किसी एक जन्म की देन न होकर जन्म जन्मांतरों की साधना का प्रतिफल है। उनके पूर्वभव उनके क्रमिक विकास का ही प्रतिफल है। जैन ग्रंथों में भगवान श्री ऋषभदेव के पूर्वभवों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है।

श्वेताम्बर ग्रंथ आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और कल्पसूत्र की टीकाओं में भगवान् श्री ऋषभदेव के तेरह भवों का विवरण मिलता है और दिगम्बराचार्य जिनसेन ने महापुराण में तथा आचार्य दामनंदी ने पुराणसार संग्रह में दस भवों का ही उल्लेख किया है। भगवान् श्री ऋषभदेव के तेरह भवों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

तेरह भवों के प्रथम भव में भगवान् श्री ऋषभदेव का जीव धन्ना सार्थवाह बना जिसने अत्यन्त उदारता के साथ मुनियों को घृतदान दिया और फलस्वरूप उसे सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई। दूसरे भव में उत्तर कुरू भोग भूमि में मानव बने और तृतीय भवमें सौधर्म देव लोक में उत्पन्न हुए। चतुर्थ भव में महाबल और इसी भव में श्रमण-धर्म भी स्वीकार किया। पांचवें भव में ललितांगदेव, छठे भव में वज्रजंघ, सातवें भव में उत्तर कुरू भोग भूमि में युगलिया, आठवें भव में सौधर्मकल्प में देव हुए। नववें भव में जीवानन्द नामक वैद्य हुए। इस भव में अपने स्नेही साथियों के साथ कृमि-कुष्ठ रोग से ग्रसित मुनि की चिकित्सा कर मुनि को पूर्ण स्वस्थ किया। मुनि के तात्विक प्रवचन-पीयूष का पान कर अपने साथियों सहित दीक्षा अंगीकार की और उत्कृष्ट संयम की साधना की। दसवें भव में यह जीव बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ। ग्यारहवें भव में

पुष्कलावतीविजय में वज्रनाभ नाम के चक्रवर्ती बने और संयम स्वीकार कर चौदह पूर्वों का अध्ययन किया तथा अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन आदि बीस निमित्तों की आराधना करके तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। अंत में मासिक संलेखनापूर्वक पादपोपगमन संथारा कर आयुष्य पूर्ण किया और फिर वहां से बारहवें भव में सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न हुए और तेरहवें भव में विनीता नगरी में अंतिम कुलकर नाभि के यहां ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया।

जन्म से पूर्वकालीन परिस्थिति :

भगवान् श्री ऋषभदेव के जन्म से पूर्व अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे में मनुष्य का आयुष्य तीन पल्योपम का होता था, तथा उनका देहमान तीन कोश परिमाण। उस समय मानव वज्र ऋषभनाराच संघयण तथा समचतुरस्त्र संस्थान वाले, सुन्दर व आकर्षक शरीर को धारण करने वाले थे। आदिपुराण[१] में वर्णन है कि वहां सदाचार, संतोष, सत्य व ईमानदारी की प्रवृत्ति के कारण रोग, शोक, वियोग व वृद्धत्वजन्य कष्ट नहीं होते थे।

उस समय अवश्यकताऐं अत्यन्त अल्प थी, संचयवृत्ति का अभाव था, पक्षी की भांति वे स्वतंत्र विचरण करते थे, किसी प्रकार की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाऐं न थीं। शासक या शासित, शोषक अथवा शोषित का सर्वथा अभाव था। उस समय की भूमि भी स्निग्ध, कोमल व मधुर थी। धान्य बिना बोए उग आते थे। घोड़े, हाथी, ऊंट आदि सभी प्रकार के पशु थे पर इनका कोई उपयोग नहीं करता था। बुभुक्षा अत्यल्प थी और उसे शांत करने के लिये अनेक प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। अतः उन लोगों ने कभी नभो मण्डल में सूर्य व चन्द्रमा के दर्शन भी नहीं किये थे। इस प्रकार एकान्त सुखरूप 'सुषमा' नामक प्रथम काल चार कोटा कोटि सागर पर्यन्त चला। तत्पश्चात् क्रमशः ह्रासोन्मुख होता हुआ द्वितीय काल पूर्ण हो गया व तृतीय काल भी व्यतीत होने लगा। शनैः शनैः कल्पवृक्षों से प्राप्त सामग्री क्षीणप्राय होने लगी। आवश्यकताऐं बढ़ने लगीं, तो संचय-वृत्ति अहंता, ममता ने भी डेरा डालना प्रारम्भ कर दिया। सरलता, निष्कपटता व सहज शांति के स्थान पर पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, तनाव व संघर्ष उत्पन्न हुए। अपराधी मनोभावना के बीज-अंकुरित

१. आदिपुराण ६।७३. ७९

होने लगे। आयु भी क्रमशः घटता हुआ तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य और एक पल्य का हो गया। शरीर का परिमाण भी घटने लगा किन्तु भोजन की मात्रा पहले से अधिक हो गई। भूमि की स्निग्धता और मधुरता में पर्याप्त अन्तर आगया। आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से मानव जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।[1]

शासन-व्यवस्था :

कुलकरों की व्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्व में संकेत किया जा चुका है। कुल की व्यवस्था व संचालन करने वाला सर्वे-सर्वा जो पूर्ण प्रतिभा सम्पन्न होता था उसे 'कुलकर' कहा गया हैं।[2] कुलकर को व्यवस्था बनाये रखने के लिये अपराधी को दण्डित करने का भी अधिकार था।

कुलकर विमलवाहन शासक के सद्भाव में कुछ समय तक अपराधों में न्यूनता रही, पर कल्पवृक्षों के क्षीणप्राय होने से युगलों का उन पर ममत्व बढ़ने लगा। एक युगलिया जिस कल्पवृक्ष का आश्रय लेता था उसी का आश्रय अन्य युगल भी ले लेता था इससे कलह व वैमनस्य की भावनाएं तीव्रतर होने लगी। वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए नीतिज्ञ कुलकर विमल-वाहन ने कल्पवृक्षों का विभाजन कर दिया।[3]

दण्डनीति :

आवश्यकता आविष्कार की जननी है, कहावत के अनुसार जब समाज में अव्यवस्था फैलने लगी। जन-जीवन त्रस्त हो उठा, तब अपराधी मनोवृत्ति पर नियंत्रण करने के लिये उपाय खोजे जाने लगे और उसी के परिणामस्वरूप दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ।[4] कहना अनुचित न होगा कि इससे पूर्व किसी प्रकार की कोई दण्डनीति नहीं थी क्योंकि उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं

१. ऋषभदेव : एक परिशीलन द्वि० सं० पृ० ११६-११७
२. स्थानांग सूत्र वृत्ति, ७६७।५१०।१
३. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२१
४. दण्ड : अपराधिनामनुशासनस्तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः नयो दण्डनीति।
स्थानांगवृत्ति-प० ३९९-१

हुई। जैन साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम 'हाकार, माकार और धिक्कार नीति' का प्रचलन हुआ। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

हाकार नीति :

इस नीति का प्रचलन कुलकर विमलवाहन के समय हुआ। इस नीति के अनुसार अपराध को खेदपूर्वक प्रताड़ित किया जाता था— 'हा ! अर्थात् तुमने यह क्या किया ?' देखने में यह केवल शब्द प्रताड़ना है किन्तु यह दण्ड भी उस समय का एक महान दण्ड था। इस 'हा' शब्द से प्रताड़ित होने मात्र से ही अपराधी पानी-पानी हो जाता था। इसका कारण यह था कि उस समय का मनुष्य वर्तमान मनुष्य की भांति उच्छृंखल एवं अमर्यादित नहीं था। वह तो स्वभाव से लज्जाशील और संकोची था। इसलिये इस 'हा' वाले दण्ड को भी वह ऐसा समझता था मानो उसे मृत्यु दण्ड मिल रहा हो।1 यह नीति कुलकर चक्षुष्मान के समय तक बराबर चलती रही।

माकार नीति :–

कोई एक प्रकार की नीति स्थाई नहीं होती है। यही बात प्रथम 'हाकार' नीति के लिये भी सत्य प्रमाणित हुई। हाकार नीति जब विफल होने लगी तो अपराधों में और वृद्धि होने लगी तब किसी नवीन नीति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। तब चक्षुष्मान के तृतीय पुत्र कुलकर यशस्वी ने अपराध भेद कर अर्थात् छोटे बड़े अपराध के मान से अलग अलग नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया। छोटे अपराधों के लिये तो 'हाकार नीति' का ही प्रयोग रखा तथा बड़े अपराधों के लिये 'माकार नीति' का प्रयोग आरम्भ किया।2 यदि इससे भी अधिक कोई करता है तो ऐसे अपराधी को दोनों प्रकार की नीतियों से दण्डित करना प्रारंभ किया।3 'माकार' का अर्थ था— 'मत करो।' यह एक निषेधात्मक महान दण्ड था। इन दोनों प्रकार की दण्डनीतियों से व्यवस्थापन कार्य यशस्वी के पुत्र 'अभिचन्द्र' तक चलता रहा।

१– जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति-कालाधिकार-७६
२– स्थानांगवृत्ति प० ३९९
३– त्रिषष्टिक शलाका० १।२।१७६-१७९

होने लगे। आयु भी क्रमशः घटता हुआ तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य और एक पल्य का हो गया। शरीर का परिमाण भी घटने लगा किन्तु भोजन की मात्रा पहले से अधिक हो गई। भूमि की स्निग्धता और मधुरता में पर्याप्त अन्तर आगया। आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से मानव जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।[1]

शासन-व्यवस्था :

कुलकरों की व्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्व में संकेत किया जा चुका है। कुल की व्यवस्था व संचालन करने वाला सर्व-सर्वा जो पूर्ण प्रतिभा सम्पन्न होता था उसे 'कुलकर' कहा गया हैं।[2] कुलकर को व्यवस्था बनाये रखने के लिये अपराधी को दण्डित करने का भी अधिकार था।

कुलकर विमलवाहन शासक के सद्भाव में कुछ समय तक अपराधों में न्यूनता रही, पर कल्पवृक्षों के क्षीणप्राय होने से युगलों का उन पर ममत्व बढ़ने लगा। एक युगलिया जिस कल्पवृक्ष का आश्रय लेता था उसी का आश्रय अन्य युगल भी ले लेता था इससे कलह व वैमनस्य की भावनाऐं तीव्रतर होने लगी। वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए नीतिज्ञ कुलकर विमल-वाहन ने कल्पवृक्षों का विभाजन कर दिया।[3]

दण्डनीति :

आवश्यकता आविष्कार की जननी है, कहावत के अनुसार जब समाज में अव्यवस्था फैलने लगी। जन-जीवन त्रस्त हो उठा, तब अपराधी मनोवृत्ति पर नियंत्रण करने के लिये उपाय खोजे जाने लगे और उसी के परिणामस्वरूप दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ।[4] कहना अनुचित न होगा कि इससे पूर्व किसी प्रकार की कोई दण्डनीति नहीं थी क्योंकि उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं

१. ऋषभदेव : एक परिशीलन द्वि० सं० पृ० ११६-११७
२. स्थानांग सूत्र वृत्ति, ७६७।५१०।१
३. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२१
४. दण्ड : अपराधिनामनुशासनस्तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः नयो दण्डनीति। स्थानांगवृत्ति-प० ३९९-१

हुई। जैन साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम 'हाकार, माकार और धिक्कार नीति' का प्रचलन हुआ। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

हाकार नीति :

इस नीति का प्रचलन कुलकर विमलवाहन के समय हुआ। इस नीति के अनुसार अपराध को खेदपूर्वक प्रताड़ित किया जाता था— 'हा! अर्थात् तुमने यह क्या किया ?' देखने में यह केवल शब्द प्रताड़ना है किन्तु यह दण्ड भी उस समय का एक महान दण्ड था। इस 'हा' शब्द से प्रताड़ित होने मात्र से ही अपराधी पानी-पानी हो जाता था। इसका कारण यह था कि उस समय का मनुष्य वर्तमान मनुष्य की भांति उच्छृंखल एवं अमर्यादित नहीं था। वह तो स्वभाव से लज्जाशील और संकोची था। इसलिये इस 'हा' वाले दण्ड को भी वह ऐसा समझता था मानो उसे मृत्य दण्ड मिल रहा हो।[1] यह नीति कुलकर चक्षुष्मान के समय तक बराबर चलती रही।

माकार नीति :–

कोई एक प्रकार की नीति स्थाई नहीं होती है। यही बात प्रथम 'हाकार' नीति के लिये भी सत्य प्रमाणित हुई। हाकार नीति जब विफल होने लगी तो अपराधों में और वृद्धि होने लगी तब किसी नवीन नीति की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। तब चक्षुष्मान के तृतीय पुत्र कुलकर यशस्वी ने अपराध भेद कर अर्थात् छोटे बड़े अपराध के मान से अलग अलग नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया। छोटे अपराधों के लिये तो 'हाकार नीति' का ही प्रयोग रखा तथा बड़े अपराधों के लिये 'माकार नीति' का प्रयोग आरम्भ किया।[2] यदि इससे भी अधिक कोई करता है तो ऐसे अपराधी को दोनों प्रकार की नीतियों से दण्डित करना प्रारंभ किया।[3] 'माकार' का अर्थ था— 'मत करो।' यह एक निषेधात्मक महान दण्ड था। इन दोनों प्रकार की दण्डनीतियों से व्यवस्थापन कार्य यशस्वी के पुत्र 'अभिचन्द्र' तक चलता रहा।

१– जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति-कालाधिकार-७६
२– स्थानांगवृत्ति प० ३९९
३– त्रिष्टिक शलाका० ११२११७६-१७९

धिक्कार नीति :

समाज में अभाव बढ़ता जारहा था। उसके साथ ही असंतोष भी बढ़ रहा था जिसके परिणामस्वरूप उच्छृंखलता और धृष्टता का भी एक प्रकार से विकास ही हो रहा था। ऐसी स्थिति में हाकार और माकार नीति से कब तक व्यवस्था चल सकती थी। एक दिन माकार नीति भी विफल होती दिखाई देने लगी और अब उसके स्थान पर किसी नई नीति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। तब माकार नीति की असफलता से 'धिक्कार नीति' का जन्म हुआ।1 यह नीति कुलकर प्रसेनजित से लेकर अंतिम कुलकर नाभि तक चलती रही। इस धिक्कार नीति के अनुसार अपराधी को इतना कहा जाता था— 'धिक् अर्थात् तुझे धिक्कार है, जो ऐसा कार्य किया।'

इस प्रकार यदि अपराधों के मान से वर्गीकरण किया जावे तो वह निम्नानुसार होगा—

जघन्य अपराध वालों के लिये 'खेद'

मध्यम अपराध वालों के लिये 'निषेध' और

उत्कृष्ट अपराध वालों के लिये 'तिरस्कार' सूचक दण्ड

मृत्य दण्ड से भी अधिक प्रभावशाली थे।2

कुलकर नाभि तक अपराधवृत्ति का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था क्योंकि उस युग का मानव स्वभाव से सरल और हृदय से कोमल था।3

कुलकर नाभिराय :

अन्य कुलकरों से नाभिराय अधिक प्रतिभा सम्पन्न थे। समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौंदर्य अपार बल वैभव के कारण वे सभी में अप्रतिम थे।....उनका युग एक संक्रांतिकाल था। भोग भूमि समाप्त होकर कर्मभूमि का प्रारंभ हो चुका था। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिये थे। नाभिराय ने उनका समाधान

१. स्थानांगवृत्ति प० ३६६-धिगधिक्षेपार्थ एव तस्य करणं उच्चारण धिक्कारः।

२. ऋषभदेवः एक परिशीलन, पृ० १२३

३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार- सू० १४

प्रस्तुत किया। वे जन जन के त्राणकर्त्ता बने। अतः उन्हें क्षत्रिय कहा गया। वे अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण 'ईश्वर के दूत' के रूप में जन जन के आदर के पात्र बने।[1] जैन और वैदिक ग्रंथों के प्रकाश में यह साधिकार कहा जासकता है कि नाभि कुलकर एक सुशासक, विचारक एवं प्रजावत्सल थे। उन्हीं नाभि कुलकर के यहां प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का जीव सर्वार्थ सिद्ध का आयु पूर्ण कर अवतरित हुआ।[2]

नाभिराय के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण हो रही थी और एक नयी सभ्यता का उदय हो रहा था। यह संधिकाल था। आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी[3] को वज्रनाभ का जीव सर्वार्थ सिद्ध विमान से च्यवकर और उत्तराषाढ़ नक्षत्र में चन्द्रयोग के समय नाभिकुलकर की पत्नी मरूदेवी की कुक्षि में इस प्रकार आया जैसे राजहंस मानसरोवर से गंगा तट पर आता है।[4]

सर्वार्थ सिद्ध विमान से च्यवकर जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जीव माता मरूदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस रात्रि के पिछले भाग में माता मरूदेवी ने निम्नलिखित चौदह शुभ स्वप्न देखे—

(१) गज, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कुंभ, (१०) पद्मसरोवर, (११) क्षीर समुद्र, (१२) विमान, (१३) रत्न राशि और (१४) निर्धूम अग्नि।[5]

कल्पसूत्र में उल्लिखित गाथा में विमान के साथ एक नाम 'भवन' भी दिया है। इसका भाव यह है कि जो जीव नरकभूमि से आते उनकी माता भवन का स्वप्न देखती है और देवलोक से आने वालों के लिये विमान का शुभ स्वप्न बतलाया गया है। संख्या में तीर्थंकर और चक्रवर्ती की माताएँ चौदह स्वप्न देखती हैं। दिगम्बर परम्परा में सौलह स्वप्न देखना बतलाया है।[6]

१. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२५-२६
२. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२७
३. आव० निर्यु० गा० १८२
४. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १२७
५. कल्पसूत्र, सूत्र ३३
६. जैन धर्म का मौलिक इति० भा० १ पृ० १३

यहां यह स्मरणीय है कि अन्य सब तीर्थंकरों की माताएँ प्रथम स्वप्न में गजराज को मुख में प्रवेश करते हुए देखती हैं, परन्तु ऋषभदेव की माता मरूदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।

स्वप्न दर्शन के पश्चात जागृत हो माता मरूदेवी नाभि कुलकर के पास आई और अलौकिक स्वप्नों का फल पूछा। नाभिराजा ने अपनी तीक्ष्ण विचार शक्ति से स्वप्नों का प्रतिफल बताते हुए कहा— 'तुम एक अलौकिक पुत्र-रत्न को प्राप्त करोगी।'[1]

जन्म :

श्वेताम्बर ग्रंथों (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र आदि) के अनुसार सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान् श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ और दिगम्बराचार्य श्री जिनसेन के अनुसार जन्मतिथि नवमीं है।[2] यह सम्भव है कि उदयास्त तिथि की मान्यता की दृष्टि से ऐसा तिथि भेद लिखा गया हो। इसके अतिरिक्त तो और कोई दूसरा कारण दिखाई नहीं देता है।

जिस समय भगवान् श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ, सभी दिशायें शांत थीं। प्रभु के जन्म से सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षणभर के लिये नारक भूमि के जीवों को भी विश्रांति प्राप्त हुई। छप्पन दिक्-कुमारियों और देव देवेन्द्रों ने आकर जन्म महोत्सव मनाया।[3] जन्माभिषेक की विशेष जानकारी के लिये जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति, आवश्यक चूर्णि, चउप्पन्न महापुरिस चरियं, एवं त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र दृष्टव्य है।

नामकरण :

भगवान् ऋषभदेव का जीव जैसे ही माता मरूदेवी के गर्भ में आया था, वैसे ही माता मरूदेवी ने चौदह महास्वप्न देखे थे। उनमें सबसे पहले 'वृषभ' का स्वप्न था और जन्मोपरांत बालक के उरु स्थल पर 'वृषभ' का शुभ चिन्ह

१. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १२६, त्रिषष्टि १।२।२२६, आव० चू० पृ० १३५
२. महापुराण – १३।१–३ पृ० २८३
३. जैन धर्म का मौलिक इति०, भा० १ पृ० १४

था।[1] अतः उनका गुण सम्पन्न नाम 'ऋषभ' रखा गया। भगवती आदि आगम और आगमेतर साहित्य में ऋषभ के साथ 'नाथ' एवं 'देव' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। ये दोनों शब्द उनके नाम के साथ कब व कैसे जुड़कर प्रचलन में आ गये, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग उनके प्रति विशेष आदरभाव प्रदर्शित करने के लिये किया गया हो।

श्रीमद् भागवत के अनुसार उनके सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' रखा।[2]

महापुराणानुसार श्रेष्ठधर्म से शोभायमान होने के कारण इन्द्र ने उनका नाम 'वृषभ' रखा।[3]

कल्प-सूत्र[4] में भगवान् ऋषभदेव के पांच निम्नलिखित नाम मिलते हैं—

(१) ऋषभ, (२) प्रथम राजा, (३) प्रथम भिक्षाचर, (४) प्रथम जिन, और (५) प्रथम तीर्थंकर।

श्री ऋषभदेव धर्म और कर्म के निर्माता थे। एतदर्थ जैन इतिहासकारों ने उनका एक नाम 'आदिनाथ' भी लिखा है और यह नाम जन-मन प्रिय रहा है।[5]

श्री ऋषभदेव के अन्य नामों में 'प्रजापति'[6], 'हिरण्यगर्भ'[7] तथा 'काश्यप'[8] भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त महापुराण में उन्हें विधाता, विश्वकर्मा और सृष्टा आदि अनेक नामों से अलंकृत किया गया है।[9]

१. आव० चू० पृ० १५१०, आव० निर्यु० १६२।१, त्रिषष्टि० १।२।६४८-६४९
२. श्रीमद् भागवत० ५-४-२ प्रथम खण्ड, गोरखपुर सं० ३ पृ० ५५६
३. महापुराण १४।१६०-१६१
४. कल्पसूत्र – १९४
५. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १३०
६. महापुराण, १६०।१६।३६३
७. वही, पर्व १२।९५
८. वही, १६।२६६ पृ० ३७०,

वंश और गोत्र :

उस समय का मानव समाज किसी कुल, जाति अथवा वंश में विभक्त नहीं था। इसलिये श्री ऋषभदेव की कोई जाति या वंश नहीं था। जिस समय श्री ऋषभदेव की आयु एक वर्ष से कुछ कम थी, वे अपने पिता की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे, तब इन्द्र अपने हाथ में इक्षुदण्ड (गन्ना) लेकर उपस्थित हुए। श्री ऋषभदेव ने इन्द्र के अभिप्राय को समझकर इक्षुदण्ड लेने के लिये अपना प्रशस्त लक्षण युक्त दाहिना हाथ आगे बढ़ाया। उस पर इन्द्र ने इक्षु भक्षण की रुचि देखकर उनके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश रखा।[1] इनकी जन्मभूमि भी तभी से इक्ष्वाकु भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] और गोत्र काश्यप कहा गया।[3]

अकाल मृत्यु :

श्री ऋषभदेव का बाल्यकाल अति आनंद से व्यतीत हुआ। शनैः शनैः वे दस वर्ष के हुए तभी एक अपूर्व घटना घटी। एक युगल अपने नवजात पुत्र पुत्री को ताड़वृक्ष के नीचे सुलाकर स्वयं क्रीड़ा हेतु प्रस्थान कर गया। भवितव्यता से एक बड़ा परिपक्व ताड़फल बालक के ऊपर गिरा, मर्म-प्रदेश पर प्रहार होने से असमय ही वह बालक मरकर स्वर्ग सिधार गया। यह प्रथम अकाल मृत्यु उस अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे में हुई।[4] यौगलिक माता-पिता ने बड़े लाड़ से अपनी इकलौती कन्या का पालन किया, अत्यन्त सुन्दर होने से उसका नाम भी 'सुनन्दा' रख दिया गया। कुछ समय पश्चात उसके माता-पिता की भी मृत्यु हो गई। इस कारण यह बालिक पथभ्रष्ट मृगी की भांति इधर उधर परिभ्रमण करने लगी। अन्य यौगलिकों ने नाभिराजा से उक्त समस्त वृत्तांत कह सुनाया। श्री नाभि ने उस लड़की के विषय में यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी बनेगी, अपने पास रख लिया।[5]

१. आव० निर्युक्ति गा०१८६
२. आव० चूर्णि – पृ० १५२
३. आव० मल० पूर्वभाग पृ० १६२
४. इस मृत्यु की घटना को जैनधर्म में यंजनक माना गया है, क्योंकि भोग भूमि के मनुष्य परिपूर्ण आयु भोग कर ही मरते हैं।
५. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १३३–३४

विवाह संस्कार :

यौगलिक परम्परा में भाई और बहन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। उस समय वर्तमान की भांति विवाह प्रथा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सुनन्दा के भाई की अकाल मृत्यु हो जाने से श्री ऋषभदेव ने सुनन्दा एवं सहजात सुमंगला से विवाह कर एक नई व्यवस्था का सूत्र-पात किया।[1] आचार्य श्री हेमचन्द्र के अनुसार श्री ऋषभदेव ने लोगों में विवाह प्रवृत्ति चालू करने के लिए विवाह किया।[2] इस प्रकार श्री ऋषभदेव ने ही भावी मानव समाज के हितार्थ विवाह-परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने मानव मन की बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन किया और उनमें बढ़ती हुई वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाया।

बीस लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहने के पश्चात् श्री ऋषभदेव का विवाह हुआ। देवेन्द्र ने वर सम्बन्धी कार्य किये और देवियों ने सुनन्दा एवं सुमंगला के लिये वधू पक्ष का कार्य सम्पन्न किया। तभी से अविवाहित स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध होना निन्दनीय माना जाने लगा।[3]

संतान :

विवाहोपरांत श्री ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ। छः लाख पूर्व से कुछ कम समय तक सुनंदा एवं सुमंगला के साथ अनासक्त भाव से गृहस्थाश्रम में रहे। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी एवं सुनंदा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल-रूप में जन्म दिया। कालांतर में सुमंगला ने युगल रूप में ४९ बार में ९८ पुत्रों को और जन्म दिया। इस प्रकार ऋषभदेव के १०० पुत्र और दो पुत्रियां उत्पन्न हुई।[4] दिगम्बर परम्परानुसार श्री ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने गये हैं।[5]

१. आव निर्युक्ति गा० १९१ पृ० १९३
२. त्रिषष्टि० १।२।८८१
३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १६
४. कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–२
५. महापुराण–जिनसेन १६-४ –५। ३४६

वंश और गोत्र :

उस समय का मानव समाज किसी कुल, जाति अथवा वंश में विभक्त नहीं था। इसलिये श्री ऋषभदेव की कोई जाति या वंश नहीं था। जिस समय श्री ऋषभदेव की आयु एक वर्ष से कुछ कम थी, वे अपने पिता की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे, तब इन्द्र अपने हाथ में इक्षुदण्ड (गन्ना) लेकर उपस्थित हुए। श्री ऋषभदेव ने इन्द्र के अभिप्राय को समझकर इक्षुदण्ड लेने के लिये अपना प्रशस्त लक्षण युक्त दाहिना हाथ आगे बढ़ाया। उस पर इन्द्र ने इक्षु भक्षण की रुचि देखकर उनके वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश रखा।[1] इनकी जन्मभूमि भी तभी से इक्ष्वाकु भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] और गोत्र काश्यप कहा गया।[3]

अकाल मृत्यु :

श्री ऋषभदेव का बाल्यकाल अति आनंद से व्यतीत हुआ। शनैः शनैः वे दस वर्ष के हुए तभी एक अपूर्व घटना घटी। एक युगल अपने नवजात पुत्र पुत्री को ताड़वृक्ष के नीचे सुलाकर स्वयं क्रीड़ा हेतु प्रस्थान कर गया। भवितव्यता से एक बड़ा परिपक्व ताड़फल बालक के ऊपर गिरा, मर्म-प्रदेश पर प्रहार होने से असमय ही वह बालक मरकर स्वर्ग सिधार गया। यह प्रथम अकाल मृत्यु उस अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे में हुई।[4] यौगलिक माता-पिता ने बड़े लाड़ से अपनी इकलौती कन्या का पालन किया, अत्यन्त सुन्दर होने से उसका नाम भी 'सुनन्दा' रख दिया गया। कुछ समय पश्चात उसके माता-पिता की भी मृत्यु हो गई। इस कारण यह बालिक पथभ्रष्ट मृगी की भांति इधर उधर परिभ्रमण करने लगी। अन्य यौगलिकों ने नाभिराजा से उक्त समस्त वृत्तांत कह सुनाया। श्री नाभि ने उस लड़की के विषय में यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी बनेगी, अपने पास रख लिया।[5]

१. आव० निर्युक्ति गा० १८६
२. आव० चूर्णि – पृ० १५२
३. आव० मल० पूर्वभाग पृ० १६२
४. इस अकाल मृत्यु की घटना को जैनधर्म में र्यजनक माना गया है, क्योंकि भोग भूमि के मनुष्य परिपूर्ण आयु भोग कर ही मरते हैं।
५. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १३३–३४

विवाह संस्कार :

यौगलिक परम्परा में भाई और बहन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। उस समय वर्तमान की भांति विवाह प्रथा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सुनन्दा के भाई की अकाल मृत्यु हो जाने से श्री ऋषभदेव ने सुनन्दा एवं सहजात सुमंगला से विवाह कर एक नई व्यवस्था का सूत्र-पात किया।1 आचार्य श्री हेमचन्द्र के अनुसार श्री ऋषभदेव ने लोगों में विवाह प्रवृत्ति चालू करने के लिए विवाह किया।2 इस प्रकार श्री ऋषभदेव ने ही भावी मानव समाज के हितार्थ विवाह-परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने मानव मन की बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन किया और उनमें बढ़ती हुई वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाया।

बीस लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहने के पश्चात् श्री ऋषभदेव का विवाह हुआ। देवेन्द्र ने वर सम्बन्धी कार्य किये और देवियों ने सुनन्दा एवं सुमंगला के लिये वधू पक्ष का कार्य सम्पन्न किया। तभी से अविवाहित स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध होना निन्दनीय माना जाने लगा।3

संतान :

विवाहोपरांत श्री ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ। छः लाख पूर्व से कुछ कम समय तक सुनंदा एवं सुमंगला के साथ अनासक्त भाव से गृहस्थाश्रम में रहे। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी एवं सुनंदा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल-रूप में जन्म दिया। कालांतर में सुमंगला ने युगल रूप में ४९ बार में ९८ पुत्रों को और जन्म दिया। इस प्रकार ऋषभदेव के १०० पुत्र और दो पुत्रियां उत्पन्न हुई।4 दिगम्बर परम्परानुसार श्री ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने गये हैं।5

१. आव निर्युक्ति गा० १९१ पृ० १९३
२. त्रिषष्टि० १।२।८८१
३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १६
४. कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–२
५. महापुराण–जिनसेन १६-४ –५। ३४६

अनेक आधुनिक विचारकों ने सुनंदा के साथ किये गये विवाह को विधवा विवाह कहा है किन्तु जैन साहित्य में उस युगल को बालक और बालिका बताया है, न कि युवा-युवती। और जब वे बालक थे तो उनका सम्बन्ध भाई बहन के रूप में ही था, पति-पत्नी के रूप में नहीं, अतः स्पष्ट है कि श्री ऋषभदेव ने सुनन्दा के साथ विवाह किया, वह विधवा विवाह नहीं था। जब उनका पति-पत्नी रूप सम्बन्ध ही नहीं हुआ तो वह विधवा कैसे कही जा सकती है ?[1]

भरत और बाहुबली का विवाह :

यौगलिक युग में भाई और बहन का दाम्पत्य एक सामान्य रिवाज था। आज जिसे अत्यन्त हेय व अनीतिसूचक समझा जाता है उस समय यह एक प्रतिष्ठित एवं सर्वमान्य प्रथा थी। भगवान् श्री ऋषभदेव ने सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण कर इस प्रथा का उच्छेद किया तथा कालान्तर में इसे और सुदृढ़ रूप देने के लिये व यौगलिक धर्म का मूलतः नाश करने के लिये जब भरत और बाहुबली युवा हुए तब भरत सहजात ब्राह्मी का पाणिग्रहण बाहुबली से करवाया और बाहुबली सहजात सुन्दरी का पाणिग्रहण भरत से करवाया। इन विवाहों का अनुकरण करके जनता ने भी भिन्न गोत्र में उत्पन्न कन्याओं को उनके माता-पिता आदि अभिभावकों द्वारा दान में प्राप्त कर पाणिग्रहण करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार एक नवीन परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ।[2]

राज्याभिषेक :

अंतिम कुलकर नाभि के समय में ही जब उनके द्वारा अपराध निरोध के लिये निर्धारित की गई धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा और अपराध निवारण में उनकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई, तब युगलिक लोग घबराकर ऋषभदेव के पास आए और उन्हें वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की प्रार्थना की।

ऋषभदेव ने कहा—'जनता में अपराधी मनोवृत्ति नहीं फैले और मर्यादा का यथोचित पालन हो इसके लिये दण्ड व्यवस्था होती है, जिसका संचालन

१. ऋषभदेव : एक परि०, पृ१३५-३६
२. ऋषभदेव : एक परिशीलन पृष्ठ १३६-१३७.

राजा किया करता है और वही समय समय पर दण्डनीति में सुधार करता रहता है। राजा का राज्य पद पर अभिषेक किया जाता है। यह सुनकर युगलियों ने कहा – 'महाराज ! आप ही हमारे राजा बन जाइये।'

इस पर ऋषभदेव ने नाभि के सम्मानार्थ कहा:–'जाओ इसके लिए तुम सब महाराज नाभि से निवेदन करो।'

युगलियों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। समय के जानकार नाभि ने युगलियों की नम्र प्रार्थना सुनकर कहा–'मैं तो वृद्ध हूं, अतः तुम सब ऋषभदेव को राज्यपद देकर उन्हें राजा बना लो।'

नाभि की आज्ञा पाकर युगलिकजन पद्मसरोवर पर गये और कमल के पत्तों में पानी लेकर आये। उसी समय आसन चलायमान होने से देवेन्द्र भी वहां आ गए। उन्होंने सविधि सम्मानपूर्वक देवगण के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया और उन्हें राजा-योग्य अलंकारों से विभूषित कर दिया।

युगलियों ने सोचा कि अलंकार विभूषित ऋषभ के शरीर पर पानी कैसे डाला जाय? ऐसा सोचकर उन्होंने श्री ऋषभदेव के चरणों पर पानी डालकर अभिषेक किया और उन्हें अपना राजा स्वीकार किया।

इस प्रकार ऋषभदेव उस समय के प्रथम राजा घोषित हुए। इन्होंने पहले से चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त कर नवीन राज्य-व्यवस्था का निर्माण किया।

युगलियों के इस विनीत स्वभाव को देखकर शकेन्द्र ने उस स्थान पर विनीता नगरी के नाम से उनकी वसति स्थापित कर दी। उस नगरी का दूसरा नाम अयोध्या भी कहा जाता है।[1]

शासन-व्यवस्था :

राज्याभिषेक के उपरान्त श्री ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था के लिये आरक्षक दल की स्थापना की, जिसके अधिकारी 'उग्र' कहलाये। 'भोग' नाम के अधिकारियों का मंत्री-मण्डल बनाया। राजा के परामर्शदाता

१. **जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग पृ० १९-२०**

'राजन्य' के नाम से विख्यात हुए तथा राज्य कर्मचारी 'क्षत्रिय' के नाम से जाने लगे ।१

दुष्ट लोगों के दमन के लिये तथा प्रजा और राज्य के संरक्षण के लिये उन्होंने चार प्रकार की सेना व सेनापतियों की भी व्यवस्था की ।२ उनके चतुर्विध सैन्य संगठन में गज, अश्व, रथ एवं पैदल सैनिक सम्मिलित किये गये अपराध-निरोध तथा अपराधियों की खोज के लिये साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति का भी प्रचलन किया ।३

दण्डनीति :

शासन की सुव्यवस्था के लिए दण्ड परम आवश्यक है । दण्डनीति सर्व अनीति रूपी सर्पों को वश में करने के लिये विषविद्यावत् है । अपराधी को उचित दण्ड न दिया जाय तो अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायगी एवं बुराइयों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकेगी । अतः श्री ऋषभदेव ने अपने समय में चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था बनाई । (१) परिभाष, (२) मण्डल बन्ध, (३) चारक, (४) छविच्छेद ।

परिभाष :

कुछ समय के लिए अपराधी व्यक्ति को आक्रोश पूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड ।

मण्डल बन्ध :

सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना ।

चारक :

बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना ।

छविच्छेद :

करादि अंगोपांगों से छेदन का दण्ड देना ।

१. त्रिषष्टि० १।२।९७४-९७६, आव० निर्यु० गा० १९८
२. वही, १।२।९२५-९३२
३. वही १।२।९५६

ये चार नीतियां कब चली, इसमें विद्वानों के मत अलग अलग हैं। कुछ विज्ञों का मन्तव्य है कि प्रथम दो नीतियां श्री ऋषभदेव के समय चली और दो भरत के समय। आचार्य अभयदेव के मंतव्यानुसार ये चारों नीतियां भरत के समय चली। आचार्य भद्रबाहु और आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय आरम्भ हो गये थे और मृत्यु दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ। जिनसेनाचार्य के अनुसार बध-बन्धनादि शारीरिक दण्ड भरत के समय चले। उस समय तीन प्रकार के दण्ड प्रचलित थे जो अपराध के अनुसार दिये जाते थे—

(१) अर्थहरण दण्ड, (२) शारीरिक क्लेश रूप दण्ड, (३) प्राण-हरण रूप दण्ड।१

खाद्य समस्या :

भगवान् श्री ऋषभदेव की राज्य-व्यवस्था से पूर्व मानव कल्पवृक्ष के फल और कंदमूल आदि के भोजन पर ही निर्भर थे। जब जनसंख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी, तब कन्दमूल आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होने लगे और कल्पवृक्षों की संख्या भी कम हो चुकी थी, फलतः मानवों ने स्वतः उत्पन्न जंगली शालि आदि अन्न का कच्चे रूप में उपयोग करना आरम्भ किया।

उस समय अग्नि आदि पकाने के साधनों का सर्वथा अभाव था। अतः वे उसे कच्चा ही खाने लगे। जब कच्चा अन्न खाने से लोगों को अपच की बीमारी होने लगी तब वे श्री ऋषभदेव के पास पहुंचे और उनसे इस समस्या के समाधान की प्रार्थना की। श्री ऋषभदेव ने उनको शालियों का छिलका हटाकर एवं हाथों से मसलकर खाने की सलाह दी। जब वह भी सुपच नहीं हो सका तो जल में भिगोकर और मुट्ठी व बगल में रखकर गर्म करके खाने की राय दी, परन्तु अपच की बाधा उससे भी दूर नहीं हुई।

श्री ऋषभदेव अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय में जानते थे। वे यह भी जानते थे कि काल की एकांत स्निग्धता से अभी अग्नि उत्पन्न नहीं

१. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १४५–४६

हो सकती, अतः जब काल की स्निग्धता कुछ कम हुई तब उन्होंने लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पन्न की और लोगों को पाक-कला का ज्ञान कराया।

चूर्णिकार ने लिखा है कि संयोगवश एक दिन जंगल के वृक्षों में अनायास संघर्ष हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हो गई। वह भूमि पर गिरे सूखे पत्ते और घास को जलाने लगी। युगलियों ने उसे रत्न समझकर ग्रहण करना चाहा किन्तु उसको छूते ही जब हाथ जलने लगे तो वे अंगारों को छोड़कर ऋषभदेव के पास आये और सारा वृत्तांत कह सुनाया। श्री ऋषभदेव ने कहा– 'आसपास की घास साफ करने से आग आगे नहीं बढ़ सकेगी।' उन लोगों ने वैसा ही किया और आग का बढ़ना बन्द हो गया।

फिर भगवान् ऋषभदेव ने बताया कि इसी आग में कच्चे धान्य को पका-कर खाया जा सकता है। युगलियों ने आग में धान्य को डाला तो वह जल गया। इस पर युगलिक समुदाय पुनः श्री ऋषभदेव के पास आया और बोला कि आग तो स्वयं ही सारा धान्य खा जाती है। तब भगवान ने मिट्टी गीली कर हाथी के कुंभ स्थल पर उसे जमाकर पात्र बनाया और बोले कि ऐसे बर्तन बनाकर धान्य को उन बर्तनों में रखकर आग पर पकाने से वह जलेगा नहीं। इस प्रकार वे लोग आग में पकाकर खाद्य तैयार करने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखाकर ऋषभदेव ने उन लोगों की समस्या हल की इसलिये लोग उन्हें विधाता एवं प्रजापति कहने लगे। सब लोग शांति से जीवन व्यतीत करने लगे।[1]

लोक-व्यवस्था :

इस शिल्प के अनन्तर अन्य शिल्पों के लिये भी द्वार खुल गया। ग्रामों व नगरों का निर्माण करने के लिये उन्होंने मकान बनाने की कला सिखाई।

कार्य करते करते मनुष्यों का मन उचट जाय तो मनोरंजन के लिये चित्र-शिल्प आदि का भी आविष्कार किया। कल्पवृक्षों के अभाव में वस्त्र की समस्या सामने उपस्थित हुई तो भगवान् ने वस्त्र निर्माण की शिक्षा दी। बाल, नाखून आदि की अभिवृद्धि से जब शरीर अभद्र व अशोभन दिखाई दिया तो भगवान् ने नापितशिल्प का प्रशिक्षण दिया।

१. जैन धर्म का मौलिक इति०, पृ० १८–१९.

उपर्युक्त पंच शिल्प सरिता के प्रवाह की भांति वृद्धिगत होते गये और शनैः शनैः एक एक शिल्प के बीस बीस अवान्तर भेद हो जाने से सम्पूर्ण शिल्प-कर्म सौ प्रकार का हो गया।1 इनके अतिरिक्त भगवान ने घसियारे का, काष्ठों के क्रय-विक्रय का तथा खेती व व्यापार संबंधी आवश्यक वस्तुओं का भी प्रशिक्षण दिया। इस प्रकार श्री ऋषभदेव सभी कल्पवृक्षों में एक मुख्य कल्पवृक्ष हो गये।2

भगवान् श्री ऋषभदेव सर्वप्रथम वैज्ञानिक और समाजशास्त्री थे। उन्होंने समाज की रचना की। भागवत में उल्लेख मिलता है कि एक वर्ष तक वर्षा न होने से लोग भूखों मरने लगे, चारों ओर 'त्राहि-त्राहि' मच गई, तब आत्मशक्ति से भगवान् श्री ऋषभदेव ने वर्षा की और उस भयंकर अकाल जन्य संकट से जनता को मुक्ति दिलाई।3 इसलिये वे वर्षा के देवता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।

आचार्य जिनसेन ने भगवान् श्री ऋषभदेव के समय प्रचलित आजीविका के प्रमुख छह साधनों का उल्लेख किया है:—

(१) असि अर्थात् सैनिकवृत्ति, (२) मषि-लिपि विद्या, (३) कृषि-खेती का कार्य, (४) विद्या-अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य, (५) वाणिज्य-व्यापार व्यवसाय, (६) शिल्प-कला कौशल। उस समय के मानवों को भी 'षट्कर्मजीविनाम्' कहा गया है।४

कला-विज्ञान :

भगवान् श्री ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का और कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी-लक्षणों का ज्ञान करवाया।5 पुत्री ब्राह्मी

१. आव० चूर्णि पूर्व भाग पृ० १५६

२. ऋषभदेव : एक परि, पृ.१४६

३. श्रीमद् भागवत स्कंध ५ अ० ४ कण्डिका ३.

४. ऋषभदेव : एक परि० पृ० १४७

५. आव० निर्युक्ति, गा० २१३

को अठारह लिपियों का अध्ययन कराया[1] और सुन्दरी को गणित परिज्ञान करवाया।[2] व्यवहार साधन हेतु मान (माप), उन्मान (तौल), अवमान (गज-फुट-इंच) एवं प्रतिमान (मन, सेर, छंटाक) सिखलाये।[3] मणि आदि पिरोने की कला भी सिखलाई।[4]

इस प्रकार सम्राट श्री ऋषभदेव ने प्रजा के कल्याण के लिये, उत्थान के लिये पुरुषों के बहत्तर कलाओं का और स्त्रियों को चोंसठ कलाओं का और सौ प्रकार के शिल्पों का ज्ञान कराया।[5]

हाथी, घोड़े और गाय आदि पशुओं का उपयोग प्रारम्भ किया[6] और इस प्रकार जीवनोपयोगी प्रवृत्तियों का विकास कर जीवन को सरस, शिष्ट और व्यवहार योग्य बनाया।[7]

वर्ण-व्यवस्था :

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना सम्राट श्री ऋषभदेव द्वारा की गई।[8] श्वेताम्बर ग्रंथों में ऐसा वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। यह वर्ण-व्यवस्था आजीविकावृत्ति को व्यवस्थित रूप देने के दृष्टिकोण से की गई थी न कि ऊंचता या नीचता की दृष्टि से।

सम्राट श्री ऋषभदेव ने स्वयं शस्त्र धारण कर मनुष्यों को यह शिक्षा दी कि आततायियों से निर्बलों की रक्षा करना शक्ति सम्पन्न व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है। आपके इस आव्हान से अनेक व्यक्तियों ने इस कर्म को स्वीकार किया और वे क्षत्रिय के नाम से जाने गये।[9]

१. वही०, गा० २१२
२, वही०, गा० २१२
३. वही०, गा० २१३
४. वही०, गा० २१४
५. कल्पसूत्र सू० १९५, जम्बूद्वीप० सू० ३६, त्रिषष्टि, १।२।९७१
६. आव० हारि० गा० २०१
७. जम्बूद्वीप वृत्ति २ वक्षस्कार
८. महापुराण, १८३।१६।३६२
९. वही० पृ० २४३।१६।३६८

आपने स्वयं दूर दूर के प्रदेशों में पद-यात्रा कर लोगों के मन में यह विचार उत्पन्न किया कि मनुष्य को सतत् गतिमान् रहना चाहिये और एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तुओं का आयात-निर्यात कर प्रजा का जीवन सुखमय बनाने का प्रयास करना चाहिये। जिन व्यक्तियों ने इस कार्य के लिये अपने आपको प्रस्तुत किया वे वैश्य के नाम से सम्बोधित किये गये।[1]

श्री ऋषभदेव ने यह भी प्रेरणा दी कि कर्म-युग में एक दूसरे के सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता। इसके लिये ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो बिना किसी भेदभाव के सेवाकार्य कर सके। जो व्यक्ति सेवा हेतु प्रस्तुत हुए, उनको शूद्र कहा गया।[2]

इस प्रकार शस्त्र धारण कर आजीविका चलाने वाले क्षत्रिय, कृषि और पशु पालन के माध्यम से जीविकोपार्जन करने वाले वैश्य और सेवा करने वाले शूद्र कहलाये।[3] ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भरत द्वारा की गई।[4]

साधना के पथ पर :

सम्राट श्री ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक लोकनायक के रूप में राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक ६३ लाख पूर्व तक प्रजा का पालन किया। उन्होंने जन-जीवन में व्याप्त अव्यवस्था को दूर कर न्याय नीति तथा व्यवस्था का संचार किया और मर्यादाओं की स्थापना की। इसके उपरांत ही स्थायी शांति प्राप्ति हेतु तथा पाप रहित जीवन के लिये योगमार्ग का अनुसरण करना आवश्यक समझा। उनका विश्वास था कि अध्यात्म साधना के बिना मनुष्य को स्थायी शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस बात पर विचार करने के उपरान्त ही उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी बनाकर साम्राज्य सौंप दिया। बाहुबली एवं अन्य पुत्रों को भी पृथक्-पृथक् राज्य दे दिया और आप स्वयं साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिये तत्पर हो गये।[5]

१. वही० पृ० २४४।१६।३६८
२. वही० पृ० २४५।१६।३६८
३. महापुराण १८४।१६।३६२
४. आव० चूर्णि, जि० पृ० २१२–१४, त्रिषष्टि १।६।१६० से २२६
५. त्रिषष्टि १।६।१९० से २२९, आव० चू०पृ० २१२–१४ जिन०

दान :

संसार त्याग की भावना से अभिनिष्क्रमण से पूर्व श्री ऋषभदेव ने प्रतिदिन प्रभात की पुण्यवेला में एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख मुद्राएँ दान दी।[1] इस प्रकार एक वर्ष की अवधि में श्री ऋषभदेव द्वारा तीन अरब अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया गया।[2] दान देकर आपने जन-जन के मानस में यह भावना भर दी कि धन के योग का महत्व नहीं है, वरन् उसके त्याग का महत्व है।

महाभिनिष्क्रमण :

भारतीय इतिहास में चैत्र कृष्णा अष्टमी का दिन[3] सदैव स्मरणीय रहेगा। जिस दिन सम्राट श्री ऋषभदेव राज्य वैभव को ठुकराकर, भोग–विलास को तिलांजलि देकर, परमात्मा-तत्व को जाग्रत करने के लिये 'सव्वं सावज्जंजोगं पच्चक्खामि' सभी पाप-प्रवृत्तियों का परित्याग करता हूं, इस भव्य भावना के साथ विनीता नगरी से निकलकर सिद्धार्थ उद्यान में, अशोक वृक्ष के नीचे उत्तराषाढ़ नक्षत्र में चतुर्थ प्रहर के समय, षष्ठ भक्त के तप से युक्त होकर सर्वप्रथम परिव्राट् बने। शीर्षस्थ बालों की तरह पापों का भी जड़ मूल से परित्याग करना है। अतः उन्होंने सिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुन्चन किया। उस समय भगवान के प्रेम से प्रेरित होकर उग्रवंश, भोग-वंश, राजन्य वंश और क्षत्रिय वंश के चार हजार साथियों ने भी उनके साथ ही संयम अंगीकार किया।[4] यद्यपि भगवान् श्री ऋषभदेव ने उन चार हजार साथियों को प्रव्रज्या प्रदान नहीं की, लेकिन उन्होंने भगवान का अनुसरण कर स्वयं ही लुंचन आदि क्रियाएँ की।[5]

साधुचर्या :

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् भगवान् परिवार सहित, समाज व देश के कर्त्तव्यों से बहुत ऊपर उठ गये थे। उन्होंने अपने स्वत्व को अखिल विश्व

१. आव० निर्यु० गा० २३९, त्रिषष्टि० १।३।२३.
२. त्रिषष्टि० १।३।२४
३. आव० निर्युक्ति, गा० ३३६
४. जम्बू० प्र० अमोलक० ३६।००-८१
५. ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १६०-६१

में प्रसारित कर दिया। विश्वमैत्री की विराट भावना उनके कण कण का आधार बन गई। माता का प्रगाढ़ स्नेह, पिता का परम् वात्सल्य व पुत्रों की अपार ममता उन्हें पथ से विचलित न कर सकी। वे कंचुकीवत स्नेह बंधनों को छोड़कर अयोध्या से प्रस्थित हुए। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार साधु-शिष्य भी उन्हीं का अनुगमन कर विचरने लगे, भगवान् जहां भी कहीं जाते, चार हजार श्रमण उन्हीं के अनुगामी होकर छायावत् अनुसरण करते। भगवान् उन श्रमणों को किसी प्रकार का आदेश, निर्देश या संकेत नहीं करते थे। वे अखण्ड मौनवृत्ति धारण कर भूमण्डल पर अप्रतिबद्ध होकर विचरण करते।१

भगवान् के प्रति प्रेमभाव के कारण ही इन लोगों ने संयम व्रत ग्रहण किया था। ज्ञानपूर्वक विवेक उनमें नहीं था। फलस्वरूप साधक जीवन की कठोरता को वे सहन नहीं कर सके। भगवान् श्री ऋषभदेव के मौन के कारण भी उनका मन विकल हो गया था। अंत में संयम के दुःखों से घबराकर उन्होंने भगवान का साथ छोड़ दिया और इच्छानुसार मार्ग अपनाने लगे। इन्होंने अनेक प्रकार के चिन्ह, वेश स्थापित कर लिये।२

प्रथम पारणा :

भगवान् घोर अभिग्रहों को धारण कर अनासक्त भाव से ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिये भ्रमण करते रहे किन्तु भिक्षा एवं उसकी विधि का जनता को ज्ञान नहीं होने से, उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार भिक्षार्थ विचरण करते हुए श्री ऋषभदेव को लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया, किन्तु फिर भी उनके मन में किसी प्रकार की ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई। एक दिन भ्रमण करते हुए भगवान् कुरू-जनपद में हस्तिनापुर पधारे। वहां बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ का पुत्र श्रेयांस युवराज थे। श्रेयांस ने रात्रि में स्वप्न देखा कि सुमेरू पर्वत श्यामवर्ण का हो गया है, उसको मैंने (श्रेयांस ने) अमृत से सींच कर फिर से चमकाया। उसी रात को नगर श्रेष्ठि सुबुद्धि ने स्वप्न देखा कि सूर्य की हजार किरणें अपने स्थान से चलित हो रही थी कि श्रेयांस ने उन रश्मियों को फिर से सूर्य में स्थापित कर दिया। राजा सोमप्रभ द्वारा भी उसी दिन

१. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १६१
२. त्रिषष्टि०, १।२।१२२-१२३

की पश्चिम रात्रि में स्वप्न देखा गया कि एक महान पुरुष शत्रुओं से युद्ध कर रहा है, श्रेयांस ने उसे सहायता प्रदान की जिससे शत्रु सैन्य को हरा दिया ।1 प्रातः होने पर सभी ने इन स्वप्नों के सम्बन्ध में चिंतन मनन किया और निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही श्रेयांस को कोई विशेष लाभ होने वाला है ।2

प्रातःकाल के समय श्रेयांस अपने आवास में बैठा स्वप्न विषयक विशेष चिंतन-मनन कर रहा था, उसे अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी कि उक्त तीनों स्वप्नों की आधारशिला मैं ही हूं, मेरे हाथ से कोई महान कार्य सम्पन्न होने वाला है । इतने में ही उसने दूर से आते हुए भगवान् श्री ऋषभदेव को निहारा, वह भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो गया । भगवान् को देखकर वह विशिष्ट ऊहापोह करने लगा, तो जाति-स्मरण ज्ञान उद्‌भूत हुआ । उसके आलोक में उसे पूर्व जन्म की स्मृति हो आई । भगवान् श्री ऋषभदेव के साथ पूर्वभव के सम्बन्धों को उसने विशेष रूप से जाना और यह भी अनुभव किया कि भगवान् एक वर्ष से निराहार हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचर रहे हैं, अभी तक कोई भी यथाकल्पनीय वस्तु उन्हें भिक्षा में नहीं मिल सकी और भगवान् याचना द्वारा कुछ ग्रहण नहीं करते, ऐसा सोच वह अपने आवास से नीचे उतरा । प्रभु को वन्दन किया और प्रेमपूरित करों से ताजा आये हुए इक्षु-रस के कलशों को ग्रहण कर भगवान् के कर कमलों में रस प्रदान किया । भगवान् अछिद्रपाणि थे अतः रस की एक भी बूंद नीचे न गिरने पाई । भगवान् ने वर्षी तप का पारणा किया । 'अहोदान' की घोषणा से गगन मण्डल परिपूरित हो गया । पंचविध सुवृष्टि हुई । सर्वत्र वातावरण स्वच्छ, रम्य और सुख प्रतीत होने लगा ।3

इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम दान श्रेयांस ने दिया, वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था । चूंकि इस दिन इक्षु-रस का दान दिया गया था, इसलिये यह तिथि 'इक्षु-तृतीया' —या 'अक्षय-तृतीया' के नाम से प्रसिद्ध हुई ।4

१. त्रिषष्टि : १।३।२४६-२४७.
२. आव० मलयगिरिवृत्ति० २१८।१
३. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १६८-६६
४. त्रिषष्टि०१।३।३०१-३०२

केवल ज्ञान की प्राप्ति :

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात निर्ममत्व भाव से तपस्या करते हुए प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए आत्मस्वरूप को चमकाते रहे। अंत में क्षपक श्रेणि में आरूढ़ हो शुक्ल ध्यान से चार घातिक कर्मों का सम्पूर्ण क्षय किया और पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में उत्तराषाढ़ नक्षत्र के योग में ध्यानारूढ़ हुए और केवल ज्ञान, केवल दर्शन की उपलब्धि की। देव एवं देवपतियों ने केवल ज्ञान का महोत्सव किया। भगवान् भाव अरिहंत हो गये। केवल ज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अत: आज भी वटवृक्ष देश में आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा जाता है।1

केवल ज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहंत हो गये। अरिहंत होने से आपमें निम्नांकित बारह गुण प्रकट हुए—

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र, अर्थात् वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्पवृष्टि, (७) दिव्य ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक सिंहासन, (१०) छत्र त्रय, (११) आकाश में देव दुन्दुभि, और (१२) भामण्डल

पांच से बारह तक के आठ गुणों को प्रतिहार्य कहा गया है।2

जिस समय भगवान् श्री ऋषभदेव को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई, ठीक इसी समय सम्राट भरत को अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने की सूचना3 तथा तीसरी पुत्र रत्न प्राप्ति की सूचना मिली।4 ये तीनों सूचनाएं एक साथ मिलने से सम्राट भरत कुछ क्षणों के लिये असमंजस में पड़ गये और निश्चय नहीं कर पाये कि सर्वप्रथम कौनसा उत्सव मनाया जावे। अंतत: यह विचार कर कि चक्र प्राप्ति अर्थ का, और पुत्र प्राप्ति काम का परिणाम है

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास-प्रथम भाग, पृ० ३२-३३
२. वही० पृष्ठ ३३
३. त्रिषष्टि० १।३।५११-५१३
४. महापुराण, पर्व २४ श्लोक २

लेकिन केवल ज्ञान धर्म का फल है और यही सर्वोत्तम है — इसलिये इस उत्सव को ही सर्वप्रथम मनाना चाहिये क्योंकि यह महान् से महान् फल देने वाला है।[1]

माता मरुदेवी की मुक्ति :

माता मरुदेवी अपने प्राणप्रिय पुत्र के दर्शनों के लिये चिरकाल से लालायित थी। जब उसने भरत से भगवान् श्री ऋषभदेव के केवल ज्ञान प्राप्ति का समाचार सुना तो उसके वृद्ध, शिथिल शरीर में भी स्फूर्ति आ गई। अपने प्रिय पुत्र को देखने के लिये वह व्यग्र हो उठी। भरत के साथ वह भी कैवल्य महोत्सव मनाने गयी। माता ने देखा कि अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासनारूढ़ पुत्र ऋषभदेव के श्री चरणों में असंख्य देवी-देवता नमन कर रहे हैं, - पूजा अर्चना कर रहे हैं और प्रभु देशना दे रहे हैं। यह सब देखकर वह भाव विभोर हो गई। वात्सल्य भावभक्ति में परिवर्तित हो गया। विरक्ता माता मरुदेवी उज्ज्वल शुक्ल ध्यान में लीन होकर सिद्ध बुद्ध हो गई। कर्मों का आवरण हट गया और वह मुक्त हो गयी। दुर्लभ निर्वाण पद की, उपलब्धि उसे सहज ही हो गई। स्वयं भगवान् श्री ऋषभदेव ने घोषणा की कि इस युग की सर्वप्रथम मुक्ति गामिनी मरुदेवी सिद्ध भगवती हो गयी है[2]

देशना एवं तीर्थ स्थापना :

केवल ज्ञानी और वीतरागी बन जाने के उपरांत भगवान् श्री ऋषभदेव पूर्ण कृत कृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकांत साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि जब तक देशना देकर धर्म तीर्थ की स्थापना नहीं की जाती तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नहीं होता। दूसरा जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा

१. वही० २४।८।५७३
२. विस्तृत विवरण के लिये देखें :
 (१) आवश्यक चूर्णि पृ० १८२
 (२) मल० वृ० पृ० २२९
 (३) त्रिषष्टि०, ११३।५२८-५३०-५३५
 (४) ऋषभदेव : एक परि० पृ० १७६-७७
 (५) जैन धर्म का मौ० इति० प्र० भा. पृ० ३९-२

गया है, समस्त जग-जीवों की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया। अतः भगवान् श्री ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है।1

भगवान् श्री ऋषभदेव ने प्रथम देशना फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन दी थी। उस दिन भगवान् ने श्रुत एवं चरित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रि भोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया।2

भगवान् श्री ऋषभदेव के इस त्यागपूर्ण, हृदयस्पर्शी प्रवचन पीयूष का पान कर भरत के ऋषभसेन आदि पांच सौ पुत्रों एवं सौ पौत्रों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और ब्राह्मी आदि पांच सौ नारियों ने साध्वी संघ में संयम व्रत अंगीकार कर लिया।3

महाराज भरत सम्यग्दर्शनी श्रावक हुए। सुन्दरी विरक्त होकर दीक्षित होना चाहती थी। परन्तु भरत ने उसको स्त्रीरत्न बनाने की इच्छा से रोक रखा, अतः उसने श्राविकाधर्म ग्रहण किया।

इस प्रकार साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना हुई। धर्म तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् श्री ऋषभदेव सर्वप्रथम तीर्थंकर बने।४

भगवान् श्री ऋषभदेव ने श्रमणों के लिये पांच महाव्रतों५ का तथा श्रावकों के लिये द्वादशव्रतों६ का निरूपण किया।

ऋषभसेन भगवान् श्री ऋषभदेव के प्रथम गणधर हुए।७ भगवान् के

१. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ४३
२. आव० निर्युक्ति, गा० ३४०
३. वही० गा० ३४४-३४५, महापुराण २४।१७५।५६१
४. जैनधर्म का मौ० इति० प्र० भा० पृ० ४४, ऋषभदेव : एक परि० पृ० १७६
५. उत्तराध्ययन-२१।२२
६. तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७
७. कल्पसूत्र १६७।५८ पुण्य विजयजी

प्रथम गणधर के रूप में एक नाम पुण्डरिक[1] भी मिलता है। किन्तु श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री की मान्यता के अनुसार, "हमारी दृष्टि में भगवान् श्री ऋषभदेव के चौरासी गणधर थे। उनमें से एक गणधर का नाम पुण्डरिक था, जो भगवान् के परिनिर्वाण के पश्चात् भी संघ का कुशल नेतृत्व करते रहे थे। संभव है, इसी कारण समय सुन्दरजी और लक्ष्मीवल्लभजी को भ्रम हो गया और उन्होंने टीकाओं में ऋषभसेन के स्थान पर पुण्डरिक नाम दिया, जो अनागमिक है।"[2]

मरीचि : प्रथम परिव्राजक :

सम्राट भरत के पुत्र मरीचि ने भगवान् की देशना से प्रभावित होकर भगवान् के श्रीचरणों में ही दीक्षा ग्रहण कर ली और दीक्षित होकर साधना प्रारम्भ की। साधना का मार्ग जितना कठिन है और इस मार्ग में आने वाली परीषह-बाधाएँ जितनी कठोर होती हैं उतनी ही कोमल कुमार मरीचि की काया थी। फलतः उन भीषण व्रतों और प्रचण्ड उपसर्ग-परीषहों को वह झेल नहीं पाया तथा कठोर साधना की पगडंडी से च्युत हो गया। उसके समक्ष समस्या आ खड़ी हुई - न तो वह उस संयम का निर्वाह कर पा रहा था और न ही पुनः गृहस्थ मार्ग पर आरूढ़ हो पा रहा था। वह समस्या का निदान खोजने लगा और अपनी स्थिति के अनुरूप उसने एक नवीन वीतराग स्थिति की मर्यादाओं की कल्पना की। श्रमण धर्म से उसने सम्भाव्य बिन्दुओं का चयन किया और उनका निर्वाह करते हुए वैराग्य के एक नवीन वेश में विचरण करने का निश्चय किया। उसका यह नवीन रूप "परिव्राजक वेश" के रूप में प्रकट हुआ। यहीं से परिव्राजक धर्म की स्थापना हुई जिसका उन्नायक मरीचि था और वही प्रथम परिव्राजक था। परिव्राजक मरीचि बाद में भगवान् के साथ विचरण करता रहा। मरीचि ने अनेक जिज्ञासुओं को दशविधि श्रणम धर्म की शिक्षा दी और भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार करने को प्रेरित किया। सम्राट भरत के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा था कि इस सभा में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो मेरे बाद चलने वाली चौबीस तीर्थंकारों की परम्परा में अंतिम तीर्थंकर बनेगा और वह है मरीचि। अपने पुत्र के उत्कर्ष से अवगत

१. कल्पलता, २०७, कल्पद्रुमवलिका, १५१

२. ऋषभदेव : एक परि० पृ० १८०

होकर सम्राट भरत गद्गद् हो गये। भावी तीर्थंकर मरीचि का उन्होंने अभिनन्दन किया। कुमार कपिल मरीचि का शिष्य था। उसने मरीचि द्वारा स्थापित परिव्राजक धर्म को सुनियोजित रूप दिया। इस नवीन परम्परा का व्यवस्थित समारम्भ किया।[1]

अट्ठानवे पुत्रों की दीक्षा :

दिग्विजय करने के उपरांत भरत ने अपने भ्राताओं को भी अपने आज्ञानुवर्ती बनाने के लिये उनके पास अपने दूत भेजे। दूत की बात को सुनकर सभी भाईयों ने मिलकर विचार विमर्श किया, किन्तु वे किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। तब वे भगवान् के पास आये। भगवान् ने समस्त स्थिति से उन्हें अवगत कराते हुए अपने प्रवचन से लाभान्वित किया। भगवान् की दिव्य वाणी में आध्यात्मिक साम्राज्य का महत्व और संघर्षजनक भौतिक राज्य के त्याग की बात सुनकर सभी अवाक् रह गये। उन्होंने भगवान के उपदेश को शिरोधार्य कर पंच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार कर भगवान् का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

सम्राट भरत को जैसे ही यह समाचार मिला, तो वह दौड़कर आये और भाइयों से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे। सभी ९८ भाइयों को भरत की स्नेहभरी बातें अपने संकल्प से विचलित नहीं कर सकी। अब वे आध्यात्मिक राज्य के अधिकारी बन गये। भरत को निराश लौटना पड़ा।[2]

१. देखें :– (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण पृ० ६-७
(२) आव० भाष्य, गा० ३७,
(३) आव० निर्यु० गा० ३५० से ३५८
(४) आव० मल० ४२८-४३१, ४३२
(५) त्रिषष्टि० १।६।५२
(६) महापुराण १८।६२।४०३

२. देखें:– (१) त्रिषष्टि० १।४।८२१-८२६, १।६।१९०-१९६,
(२) भगवती १४।९, (३) आव० चू० जिनदास, २०९-२१०
(४) श्रीमद् भागवत् ५।५।१।५५९, ५।५।४।५५९, ५।५।५।५६०,
५।५।६।५६०; (५) महापुराण ३४।१२५।१६२

है ।[1] महान पिता के पुत्र भी महान होते हैं। क्षमा कीजिये, क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता।"[2]

बाहुबली का क्रोध कम हुआ। उठा हुआ हाथ भरत पर न गिरकर स्वयं के ही सिर पर गिरा और लुंचन कर वे श्रमण बन गये।[3] बाहुबली के पैर चलते चलते रुक गये। वे पिताश्री की शरण में पहुंचने पर भी चरण में नहीं पहुंच सके। पूर्व दीक्षित साधु लघु भ्राताओं को नमन करने की बात स्मृति में आते ही उनके चरण एकांत शांत कानन में स्तब्ध हो गये, असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अस्मिता से पराजित हो गये। एक वर्ष तक हिमालय की भांति अडोल ध्यानमुद्रा में अवस्थित रहने पर भी केवल ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त नहीं हो सका। शरीर पर लताएं चढ़ गईं, पक्षियों ने घोंसले बना लिये, पैर बाल्मीकों (बांबियों) से वेष्टित हो गये तथापि सफलता नहीं मिली।[4]

बाहुबली को केवल ज्ञान की प्राप्ति :

एक वर्ष के उपरान्त भगवान् श्री ऋषभदेव ने बाहुबली में अन्तर्ज्योति जगाने के लिये ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा। नमन करने के बाद दोनों ने कहा "हाथी पर आरूढ़ व्यक्ति को कभी भी केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती अतः नीचे उतरो।"[5] इन शब्दों को सुनते ही बाहुबली के चिंतन का प्रवाह बदल गया और वे वास्तविकता समझ गये। छोटे भाई चारित्रिक दृष्टि से बड़े हैं। उन्हें नमन करना चाहिये। बस। वे जैसे ही नमन करने के लिये बढ़े कि सभी बन्धन टूट गये। अहंकार विनय से पराजित हो गया। वे केवली बन गये। भगवान् श्री ऋषभदेव के चरणों में पहुंच कर उनकी केवली परिषद् में विराजित हो गये।[6]

१. वही, १।५।७२७-७२८
२. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १४२ प्रथम संस्करण
३. त्रिषष्टि०, १।५।७४०,
४. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १४२-४३ प्रथम संस्करण
५. त्रिषष्टि० १।५।७८७-७८८
६. वही, १।५।७९५-७९८, आव० चू० पृ० २११

भरत और बाहुबली :

अव भरत, बाहुवली को अपने अधीन करना चाहते थे। इसके लिये एक संदेश लेकर वाहुवली के पास एक दूत भेजा गया। भरत का संदेश सुनकर बाहुबली क्रोधित हो उठे। उन्होंने अधीनता स्वीकार करने के लिये मना कर दिया। कहलवाया कि जव तक भरत मुझे नहीं जीत ले तव तक वह विजेता नहीं है।[1]

भरत एक विशाल सेना लेकर बाहुबली से युद्ध करने के लिए बहली देश की सीमा पर जा पहुंचे। वाहुवली भी अपनी छोटी सेना को सजाकर युद्ध के मैदान में आ गये। दीर्घकाल तक युद्ध चलता रहा किन्तु हार जीत का निर्णय नहीं हो सका। अंततः बाहुबली के सुझाव पर यह निर्णय लिया गया कि व्यर्थ रक्त-पात करने के स्थान पर दोनों ही मिलकर युद्ध का निर्णय कर लें।[2] इस पर दृष्टि युद्ध, वाक्युद्ध, वाहुयुद्ध, मुष्टि-युद्ध, और दण्ड-युद्ध हुए।[3] सभी में बाहु-बली की ही विजय हुई। इससे भरत ने आवेश में आकर मर्यादा भूलकर बाहुवली के शिरश्च्छेदन करने के लिये चक्र का प्रयोग किया। इस पर बाहु-वली अत्यधिक क्रोधित हो उठे। उछलकर वाहुबली ने चक्र को पकड़ना चाहा किन्तु चक्र बाहुवली के आसपास प्रदक्षिण कर पुनः भरत के पास वापस लौट गया।[4] यह देखकर सभी उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये। बाहुबली की प्रशंसा में गगनमण्डल गूंज उठा। भरत को अपने किये पर लज्जित होना पड़ा।[5]

वाहुवली ने क्रुद्ध होकर भरत पर प्रहार करने के लिये अपनी प्रबल मुट्ठी उठाई। इसे देखकर आवाज गूंज उठी—"सम्राट भरत ने भूल की है, किन्तु आप भूल न करें। छोटे भाई के द्वारा ज्येष्ठ भ्राता की हत्या अनुचित

१. त्रिषष्टि० १।५।४६७,
२. आवश्यक चूर्णि, पृ० २१०
३. त्रिषष्टि०, पर्व १ सर्ग ५
४. वही, १।५।७२२-७२३
५. वही, १।५।७४६

है।[1] महान पिता के पुत्र भी महान होते हैं। क्षमा कीजिये, क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता।"[2]

बाहुवली का क्रोध कम हुआ। उठा हुआ हाथ भरत पर न गिरकर स्वयं के ही सिर पर गिरा और लुंचन कर वे श्रमण बन गये।[3] बाहुवली के पैर चलते चलते रुक गये। वे पिताश्री की शरण में पहुंचने पर भी चरण में नहीं पहुंच सके। पूर्व दीक्षित साधु लघु भ्राताओं को नमन करने की बात स्मृति में आते ही उनके चरण एकांत शांत कानन में स्तब्ध हो गये, असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबली अस्मिता से पराजित हो गये। एक वर्ष तक हिमालय की भांति अडोल ध्यानमुद्रा में अवस्थित रहने पर भी केवल ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त नहीं हो सका। शरीर पर लताएं चढ़ गई, पक्षियों ने घोंसले बना लिये, पैर वाल्मीकों (बांवियों) से वेष्टित हो गये तथापि सफलता नहीं मिली।[4]

बाहुबली को केवल ज्ञान की प्राप्ति :

एक वर्ष के उपरान्त भगवान् श्री ऋषभदेव ने बाहुबली में अन्तर्ज्योति जगाने के लिये ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा। नमन करने के बाद दोनों ने कहा "हाथी पर आरूढ़ व्यक्ति को कभी भी केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती अतः नीचे उतरो।"[5] इन शब्दों को सुनते ही बाहुवली के चिंतन का प्रवाह बदल गया और वे वास्तविकता समझ गये। छोटे भाई चारित्रिक दृष्टि से बड़े हैं। उन्हें नमन करना चाहिये। बस। वे जैसे ही नमन करने के लिये बढ़े कि सभी बन्धन टूट गये। अहंकार विनय से पराजित हो गया। वे केवली बन गये। भगवान् श्री ऋषभदेव के चरणों में पहुंच कर उनकी केवली परिषद् में विराजित हो गये।[6]

१. वही, १।५।७२७-७२८
२. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १४२ प्रथम संस्करण
३. त्रिषष्टि०, १।५।७४०,
४. ऋषभदेव : एक परि०, पृ० १४२-४३ प्रथम संस्करण
५. त्रिषष्टि० १।५।७८७-७८८
६. वही, १।५।७९५-७९८, आव० चू० पृ० २११

भरत को केवल ज्ञान प्राप्ति एवं निर्वाण :

अखण्ड भारत के एक छत्र साम्राज्य का सत्ताधीश होकर भी सम्राट भरत के मन में न तो वैभव के प्रति आसक्ति का भाव था और न ही अधिकारों के लिये लिप्सा का। सुशासन के कारण वे इतने लोकप्रिय हो गये थे कि उन्हीं के नाम को आधार मानकर इस देश को भारतवर्ष कहा जाने लगा। सुदीर्घकाल तक वे शासन करते रहे, किन्तु दायित्वपूर्ति की कामना से ही, अन्यथा अधिकार, सत्ता, ऐश्वर्य आदि के भाग की कामना तो उनमें रंचमात्र भी नहीं थी।

भगवान् श्री ऋषभदेव विचरण करते करते एक समय राजधानी विनीता नगरी में पधारे यहां भगवान् से किसी जिज्ञासु द्वारा एक प्रश्न पूछा गया जिसके उत्तर में भगवान् ने यह व्यक्त किया कि चक्रवर्ती सम्राट भरत इसी भव में मोक्ष की प्राप्ति करेंगे। भगवान् की वाणी अक्षरशः सत्य घटित हुई। इसका कारण यही था कि साम्राज्य के भोगोपभोगों में वे मात्र तन से ही संलग्न थे, मन से तो वे सर्वथा निर्लिप्त थे। सम्यग्-दर्शन के आलोक से उनका चित्त जगमग करता रहता था। उन्हें अंततः केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपलब्ध हो गया। कालान्तर में उन्हें निर्वाण पद की प्राप्ति हो गई और वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।[1]

धर्म-परिवार :

जिस प्रकार भगवान् श्री ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार विशाल था, उसी प्रकार उनका धर्म-परिवार भी अति-विशाल था। भगवान् के पावन प्रवचनों को सुनकर चौरासी हजार श्रमण बने और तीन लाख श्रमणियां बनी। तीन लाख श्रावक और पांच लाख चौपनहजार श्राविकाएँ हुई।[2]

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्व० पृ० ११ विस्तार के लिये देखें:-
(१) जैनधर्म और दर्शन-मुनिनथमल (२) जैन दर्शन के मौलिक तत्व
(३) आवश्यक निर्युक्ति गा० ४३६, (४) आव० चूर्णि पृ० २२७
(५) ऋषभदेव . एक परिशीलन.

२. कल्पसूत्र–१९७-५८

भगवान् के धर्म-परिवार में वीस हजार केवल ज्ञानी, बारह हजार छः सौ मनः पर्यवज्ञानी, नौ हजार अवधिज्ञानी, बीस हजार छः सौ वैक्रियलब्धिधारी, चार हजार सात सौ पचास चौदहपूर्वधारी, बारह हजार छः सौ पचास वादी थे।[1]

परिनिर्वाण :

तृतीय आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहने पर भगवान् दस हजार श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर आरूढ़ हुए। चतुर्दश भक्त से आत्मा को भावित करते हुए अभिजित नक्षत्र के योग में पर्यङ्कासन से स्थित, शुक्ल ध्यान के द्वारा वेदनीय कर्म, आयुष्यकर्म, नाम कर्म और गोत्र कर्म को नष्ट कर सदा सर्वदा के लिये अक्षर, अजर, अमर पद को प्राप्त हुए। जिसे जैन परिभाषा में निर्वाण या परिनिर्वाण कहते हैं।[2]

भगवान् श्री ऋषभदेव का जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व विश्व के कोटि-कोटि मानवों के लिये कल्याणरूप, मंगलरूप और वरदानरूप रहा है। वे श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति के आदि पुरुष हैं। भारतीय संस्कृति के ही नहीं मानव संस्कृति के आद्य निर्माता हैं। उनके हिमालय सदृश विराट जीवन पर दृष्टि डालते-डालते मानव का सिर ऊंचा हो जाता है और अंतर भाव श्रद्धा से झुक जाता है।

विशेष :

स्थानांग सूत्र में जो दस आश्चर्य गिनाये गये हैं, उनमें से एक आश्चर्य उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्धों से सम्बन्धित हैं। ये ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध भगवान् श्री ऋषभदेव के समय हुए। नियम के अनुसार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो[3] ही एक साथ सिद्ध होने चाहिये लेकिन भगवान् श्री ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय में एक साथ सिद्ध हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१. कल्पसूत्र, सू० १९७

२. ऋषभदेव : एक परिशीलन पृ० २३४-३५ द्वि० संस्करण
विस्तार के लिये देखें (१) आव० चूर्णि २२१, (२) आव०नि०गा०३३३
(३) कल्पसूत्र १९९।५९, (४) त्रिषष्टि १।६।४५९-४६१,
(५) जम्बूद्वीप प्र० ४८।९१

३. उत्तरा० ३६ – उक्कोसोगाहणाए य सिज्झंते जुगवं दुवे। ५४ गाथा.

३. भगवान् श्री अजित (चिह्न हाथी)

प्रथम तीर्थंकर, मानव सभ्यता के आद्य प्रवर्त्तक भगवान् श्री ऋषभदेव के सुदीर्घकाल पश्चात् इस धरातल पर द्वितीय तीर्थंकर के रूप में भगवान् श्री अजित का अवतरण हुआ।

पूर्वभव :

महाराज विमलवाहन के जीवन में इन्होंने बड़ी साधना और जिन प्रवचन की भक्ति की थी। संसार में रहते हुए भी इनका जीवन भोगों से अलिप्त था। विशाल राज्य और भव्य भोगों को पाकर भी उस ओर इनकी प्रीति नहीं हुई। लोग इनको युद्धवीर, दानवीर और दयावीर कहा करते थे।

इनका मन निरन्तर इस बात के लिये चिंतित रहता था कि – "मनुष्य जन्म पाकर हमने क्या किया? बचपन से लेकर आज तक न जाने कितनों को सताया, कितनों को डराया और कितनों को निराश किया, जिसकी कोई सीमा नहीं। तन, धन और सम्मान के लिये हजारों कष्ट सहते रहे। पर अपने आपको ऊंचा उठाने का कभी विचार नहीं किया। क्या जीवन की सफलता यही है?"

राजा के इस प्रकार के चिंतन को तब और बल मिला जब अरिदम आचार्य के नगर के उद्यान में आने की शुभ सूचना वन पालक ने उनको दी। बड़े उत्साह और प्रेम के साथ राजा आचार्य को वन्दन करने गया और आचार्य के त्यागपूर्ण जीवन के दर्शन कर परम प्रसन्न हुआ। उसके अन्तर्मन की सारी वासनाएँ शांत हो गयी। आचार्य के त्याग और वैराग्यपूर्ण उपदेश को सुनकर राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्य सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

वह साधु बन गये। पांच समिति, तीन गुप्ति की साधना करते हुए उन्होंने विविध प्रकार के तप, अनुष्ठान आदि किए और एकावली, रत्नावली, लघुसिंह

और महासिंह-निक्रीड़ित जैसी तपस्या से विपुल कर्म निर्जरा की। बीस बोल की आराधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन भी उन्होंने कर लिया अन्त समय में अनशन के साथ प्राण त्याग किये और विजय विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।१

माता-पिता एवं जन्म :

विनीतानगरी के महाराज जितशत्रु थे। उनकी महारानी विजयादेवी अतिधर्मपरायणा महिला थीं। "विमल-वाहन" का जीव वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रोहिणी नक्षत्र के योग से विजय विमान से च्यवन हुआ और उसी रात को माता ने गर्भ धारण किया तथा चौदह महान फलदायी शुभ स्वप्न भी देखे। उसी रात राजा जितशत्रु के लघु भ्राता सुमित्र की भार्या ने भी गर्भ धारण किया और उसने भी चौदह शुभ स्वप्न देखे। उसने भी चक्रवर्ती पुत्र का लाभ प्राप्त किया।

माघ शुक्ला अष्टमी के शुभ दिन रोहिणी नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। नरेन्द्रों ने ही नहीं देवेन्द्रों ने भी जन्मोत्सव उत्साहपूर्वक मनाया। असंख्य देवताओं द्वारा पुष्प वर्षा कर हार्दिक हर्ष व्यक्त किया गया। इस मंगल अवसर पर राजा जितशत्रु ने कैदियों को मुक्त किया और याचकों को मनोवांछित दान देकर प्रसन्न किया।

नामकरण :

माता विजयादेवी के गर्भ में जब से आपका आगमन हुआ, कोई भी राजा जितशत्रु को जीत नहीं सका। इसलिये माता-पिता द्वारा आपका नाम अजित रखा गया। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि जब आप गर्भावस्था में थे तब रानी विजयादेवी को महाराज जितशत्रु खेल में जीत नहीं पाये थे। अतः अपने पुत्र का नाम अजित रखा।२

गृहस्थावस्था :

जब आप युवा हुए तो माता-पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के साथ

१. जैन धर्म का मौलिक इति०, प्र० भा० पृ० ६४.
२. आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग पृ० १०

आपका विवाह हुआ। लेकिन आप अलिप्त भाव से इस सांसारिक व्यवहार को चलाते रहे।

मोक्ष-साधन की इच्छा प्रकट करते हुए एक दिन राजा जितशत्रु ने अजित से राज्य ग्रहण करने के लिये कहा। आपने सुझाव दिया कि राज्य का भार चाचा सुमित्र को सौंप दिया जावे। किन्तु उन्होंने भी इसे स्वीकार नहीं किया। तब आपको ही राज्य भार का संचालन अपने हाथों में लेना पड़ा। आपके शासनकाल में प्रजा सुख-समृद्धि और शांति का अनुभव करने लगी। इस अवधि में महाराज अजित अपने कर्त्तव्य के प्रति गतिशील बने रहे थे। अधिकार वाले पक्ष के प्रति वे पूर्णरूप से उदासीन थे। अंततः आपने राज्य का भार सुमित्र के पुत्र सगर को सौंपकर दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। सगर आगे चलकर दूसरा चक्रवर्ती बना।

दीक्षा एवं पारणा :

श्री अजित के विरक्त भाव को जानकर लोकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु से धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तन की प्रार्थना की। प्रभु ने भी एक वर्ष तक दान देकर माघ शुक्ला नवमी को दीक्षा की तैयारी की। हजारों स्त्री-पुरुषों के बीच जब आप सहस्राम्रवन में पालकी से नीचे उतरे तब जयनाद से गगन मण्डल गूंज उठा।[2]

भगवान् श्री अजित ने पंचमुष्टिक लोचकर समस्त सावद्य कर्मों का त्याग किया। दीक्षा की महत्ता से प्रभावित होकर आपके साथ एक हजार अन्य राजा और राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की। उस समय आप बेले[3] की तपस्या में थे। अयोध्या के राजा ब्रह्मदत्त के यहां भगवान् श्री अजित का प्रथम पारणा क्षीरान्न से सम्पन्न हुआ था।

केवल ज्ञान :

बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरने के बाद भगवान् पुनः विनी-

१. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा., पृ० ६६
२. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा. पृ. ६६
३. तिलोय पण्णत्ति गा. ६४४—६७ में अष्टम भक्त का उल्लेख है।

तानगरी के सहस्राम्रउद्यान में पधारे और सप्तपर्ण नामक वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न हो गये। ध्यान की परमोच्च स्थिति में पौष शुक्ला एकादशी के दिन प्रातः काल में जब चन्द्ररोहिणी नक्षत्र था, तब छठ की तपश्चर्या में भगवान् ने केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त किया। देवों ने, इन्द्रों ने भगवान् का केवल ज्ञान उत्सव मनाया। देवों ने समवसरण की रचना की। उद्यान-पाल ने सगर राजा को भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त होने की सूचना दी। राजा सगर अपने विशाल राजपरिवार के साथ भगवान् के समवसरण में पधारे। भगवान् ने समवसरण के बीच सिंहासन पर विराजमान होकर देशना दी। देशना सुनकर सिंहसेन आदि ६५ व्यक्तियों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर पद प्राप्त किया। महाराज सुमित्रविजय ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। तदनन्तर भगवान् ने विशाल मुनि समूह एवं गणधरों के साथ विहार कर दिया।१ चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

आपका धर्म-परिवार इस प्रकार था :-

गणधर	—	— ९५
केवली	—	— २२०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	— १२५००
अवधिज्ञानी	—	— ९४००
चौदह पूर्वधारी	—	— ३७००
वैक्रियलब्धिधारी	—	— २०४००
वादी	—	— १२४००
साधु	—	—१०००००
साध्वी	—	—३३००००
श्रावक	—	—२९८०००
श्राविका	—	—५४५०००२

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १७२

२. जैन धर्म का मौ. इति. प्र. भा. पृ. ६६–६७

परिनिर्वाण :

अन्त में ७२ लाख पूर्व की आयु पूर्णकर आप एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन मृगशिर नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध मुक्त हुए। यही आपका निर्वाण दिवस है।

आपने अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में, त्रेपन लाख पूर्व कुछ अधिक शासक की अवस्था में, बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में और कुछ कम एक लाख पूर्व केवली पर्याय में व्यतीत किये।[1]

आपके निर्वाण के पश्चात भी दीर्घकाल तक आपके द्वारा स्थापित धर्म-शासन चलता रहा और असंख्य आत्माओं का कल्याण होता रहा।

१. वही. पृ. ६७

४. भगवान् श्री संभव (चिह्न-अश्व)

भगवान् श्री अजित के उपरांत भगवान् श्री संभव तीसरे तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन थे। राजा विपुलवाहन के राज्य-काल में एक समय अति-भयंकर दुष्काल पड़ा। राजा विपुलवाहन कर्त्तव्यपरायण और प्रजावत्सल था। अकाल की काली छाया से प्रजा में हाहाकार मच गया। राजा इस स्थिति को देखकर द्रवित हो उठा और उसने अपने अन्न भण्डारों के द्वार प्रजा के लिये खोल दिये। यही नहीं उसने संतों और उनके भक्तों की भी सेवा की। साधु-साध्वियों को वह निर्दोष आहार स्वयं प्रदान करता था। इस प्रकार चतुर्विध संघ की सेवा करके उसने तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया। कालान्तर में राज्य-भार अपने पुत्र को सौंपकर राजा विपुलवाहन दीक्षा अंगीकार कर साधना के पथ पर अग्रसर हुआ। कठोर तपस्याओं-साधनाओं के उपरांत आयुष्य पूर्ण कर उसे आनत स्वर्ग में स्थान प्राप्त हुआ।

जन्म एवं माता-पिता :

देवलोक से निकलकर विपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराजा जितारि के यहां पुत्र रूप में जन्म लिया। इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी था। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ में आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्न फल सुनकर रानी परम प्रसन्न हुई।[1]

उचित आहार-विहार और मर्यादा से नव माह तक गर्भ की प्रतिपालना

१, जैनधर्म का मौलिक इति०, प्र० भा०, पृ० ६८

कर मृगशिर शुक्ला चतुर्दशी को अर्धरात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया ।1

नामकरण :

आपके जन्म से सम्पूर्ण राज्य में अद्‌भुत परिवर्तन होने लगे। समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि होने लगी। धान्य भी कई कई गुना अधिक उत्पन्न होने लगा। इसके अतिरिक्त महाराज जितारि के अब असम्भव प्रतीत होने वाले कार्य भी सम्भव हो गये। अतः माता-पिता ने विवेकपूर्वक अपने पुत्र का नाम सम्भव रखा ।2

गृहस्थावस्था एवं दीक्षा :

युवा होने पर सम्भव का विवाह सुन्दर राजकुमारियों से किया गया। जन्म से पन्द्रह लाख पूर्व व्यतीत होने पर पिता ने आपको राज्य-भार सौंप दिया। चार पूर्वांग अधिक चवालीस लाख पूर्व तक आप राज्य करते रहे। तदनन्तर मार्ग-शीर्ष पूर्णिमा के दिन मृगशीर्ष नक्षत्र में जब चन्द्र का योग था, तब आपने तीर्थंकर की परम्परा के अनुसार वार्षिक दान देकर सर्वार्थ नामक शीविका में आरूढ़ होकर सहस्राम्रवन में षष्ठ तपस्या के साथ दिन के पिछले प्रहर में एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की ।3

आपके परम उच्च त्याग से देव, दानव एवं मानव सभी बहुत प्रभावित थे, क्योंकि आप चक्षु, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों पर और क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मुंडित हुए। दीक्षित होते ही आपको मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ और जन जन के मन पर आपकी दीक्षा का बड़ा प्रभाव रहा ।4

विहार और पारणा :

जिस समय आपने दीक्षा ग्रहण की उस समय आपको निर्जल षष्ठ भक्त का तप था। दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु सावस्थी नगरी में पधारे और सुरेन्द्र

१. जैनधर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ६९
२. च० महा० पु० च०, पृ० ७२
३. आगमों में तीर्थ० चरित्र, पृ० १७६
४. जैनधर्म का मौ० इति०, प्र० भा० पृ० ७०

राजा के यहां प्रथम पारणा किया। फिर तप करते हुए विभिन्न ग्राम-नगरों में विचरते रहे।1

केवल ज्ञान :

चौदह वर्ष तक सघन वनों, गहन कंदराओं, एकान्त गिरि शिखरों पर ध्यान-लीन रहे, मौन पूर्वक साधना-लीन रहे। छद्मावस्था में ग्रामानुग्राम विहार करते रहे। अन्ततः अपने तप द्वारा प्रभु घनघाती कर्मों के विनाश में समर्थ हुए उन्हें श्रावस्ती नगरी में कार्तिक कृष्णा पंचमी को मृगशिर नक्षत्र के शुभ योग में केवल ज्ञान केवल दर्शन का लाभ हो गया।2

केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरांत प्रभु ने देशना देकर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और फिर आप भाव - तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

श्री चारू जी भगवान् श्री संभव के प्रमुख शिष्य थे। शेष धर्म परिवार का विवरण निम्नलिखितानुसार है :—

गणधर	— १०२
केवली	—१५०००
मनः पर्यवज्ञानी	—१२१५०
अवधिज्ञानी	— ९६००
चौदह पूर्वधारी	— २१५०
वैक्रिय लब्धिधारी	—१९८००
वादी	—१२०००
साधु	२०००००
साध्वी	३३६०००
श्रावक	— २९३०००
श्राविका	— ६३६०००

१. जैनधर्म का मौ० प्र० भा०, पृ० ७०
२. चौवीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ०२२

परिनिर्वाण :

भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद चार पूर्वांग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद की पालना करके एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर्वत पर चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन मृगशिर नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त किया। भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व का रहा।[1]

१. तीर्थंकर चरित्र भाग १, पृ० १६४.

५. भगवान् श्री अभिनंदन (चिह्न-कपि)

भगवान् श्री संभव के पश्चात् चौथे तीर्थंकर रूप में आपका अवतरण हुआ।

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में रत्नसंचया नामक नगरी थी। महाबल नाम के वहां राजा थे। वे बड़े वीर और धार्मिक थे। उन्होंने एक बार विमलसूरि से उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या लेकर वे संयम की विशुद्ध आराधना करने लगे। संयम की साधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देह का त्याग कर महाबल मुनि विजय नामक अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।1

जन्म एवं माता-पिता :

विजय विमान से च्यवन कर महाबल का जीव अयोध्या नगरी में महाराजा संवर के यहां तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। वैशाख शुक्ला चतुर्थी को पुष्य नक्षत्र में आपका विजय विमान से च्यवन हुआ। महारानी सिद्धार्था ने गर्भ धारण किया और उसी रात्रि को चौदह मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे।2

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वितीया को पुष्य नक्षत्र के योग से माता सिद्धार्था ने सुखपूर्वक पुत्र रत्न को जन्म दिया। आपके जन्म के समय नगर और देश में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में सुख शान्ति एवं आनन्द की लहरें फैल गई। देवों और देवपतियों ने आपका जन्म महोत्सव मनाया।3

१. आगमों में तीर्थ० चरित्र०, पृ० १७८
२. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ७२
३. वही० पृ० ७२

नामकरण :

जब बालक माता के गर्भ में था तब राजा का समस्त राज्य और कुल आनंदित हो उठा था इसलिये बालक का नाम अभिनंदन रखा।1

गृहस्थावस्था :

आपके युवा होने पर पिता ने सुन्दर राजकुमारियों के साथ आपका विवाह किया। साढ़े बारह लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर पिता ने अभिनंदन का राज्याभिषेक किया। इसके उपरांत राजा संवर ने दीक्षा ग्रहण की। आठ पूर्वांग सहित साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तक भगवान् श्री अभिनंदन ने प्रजा का पूर्ववत् पालन करते हुए उस पर शासन किया।2

दीक्षा एवं पारणा :

प्रजाजनों को कर्त्तव्य-पालन और नीतिधर्म की शिक्षा देते हुए साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्षों तक उत्तम प्रकार से राज्य का संचालन कर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान देने के पश्चात् माघ शुक्ला द्वादशी को अभिचि-अभिजित नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ भगवान् ने सम्पूर्ण पापकर्मों का त्याग किया और वे पंच मुष्टिक लोच कर सिद्ध की साक्षी से संयम स्वीकार कर संसार से विमुख हो मुनि बन गये। उस समय आपको बेले की तपस्या थी।

दीक्षा के पश्चात् आप साकेतपुर पधारे और वहां के महाराज इन्द्रदत्त के यहां प्रथम पारणा किया। उस समय देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर 'अहोदानं-अहोदानं' का दिव्य घोष किया।3

केवलज्ञान :

दीक्षा ग्रहण करते ही आपने मौनव्रत धारण कर लिया जिसका निर्वाह करते हुए उन्होंने अठारह वर्ष की दीर्घ अवधि तक कठोर तप किया -- उग्र तप,

१. च० मह० पु० च०, पृ ७५
२. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १७६
३. जैनधर्म का मौ० इति०, प्र० भा० पृ० ७३

अभिग्रह, ध्यान आदि में स्वयं को व्यस्त रखा। इस समस्त अवधि में वे छद्म-अवस्था में भ्रमण करते रहे और ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। भगवान् अयोध्या में सहस्त्राम्रवन में बेले की तपस्या में थे कि उनका चित्त परम समाधिदशा में प्रविष्ट हो गया। वे शुभ शुक्लध्यान में लीन थे कि उसी समय उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय कर दिया। अभिजित नक्षत्र में पौष शुक्ला चतुर्दशी को भगवान् ने केवल ज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।[1]

देवों, तिर्यंचों और मनुष्यों के अपार समुदाय में भगवान् ने प्रथम देशना दी। इस अवसर पर आपने धर्म के गूढ़ अर्थ का विवेचन किया और उसका मर्म स्पष्ट किया। देशना देकर आपने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

आपका धर्म-परिवार इस प्रकार था :—

गण एवं गणधर	—	११६
केवली	—	१४०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	११६००
अवधि ज्ञानी	—	६८००
चौदह पूर्वधारी	—	१५००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१६०००
वादी	—	११०००
साधु	—	३०००००
साध्वी	—	६३००००
श्रावक	—	२८८०००
श्राविका	—	५२७०००

1. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० २६

परिनिर्वाण :

जीवनकाल की समाप्ति में वैशाख शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र के योग में आपने एक मास के अनशन से एक हजार मुनियों के साथ समस्त कर्मों का क्षयकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।[1]

आपने पचास लाख पूर्व वर्षों का आयुष्य पूर्ण किया था। जिसमें से साढ़े बारह लाख पूर्व तक कुमारावस्था, आठ पूर्वांग सहित साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तक राज्य पद और शेष आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक दीक्षा का पालन किया।

१. त्रिषष्टि, पर्व ३ सर्ग ३ श्लोक १७२.

६. भगवान् श्री सुमति (चिह्न–क्रौंच पक्षी)

चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में आपका क्रम पांचवां है।

पूर्वभव :

आपकी धर्म-साधना पूर्व विदेह के पुष्कलावती विजय में हुई। महाराज विजयसेन की रानी सुदर्शना पुत्र नहीं होने से सदैव चिंतित रहती थी।

एक दिन उसने उद्यान में किसी सेठानी के साथ आठ पुत्रवधुएं देखी तो उसके मन में बड़ा विचार हुआ। उसने राजा के सामने अपनी चिंता व्यक्त की तो राजा ने तपस्या कर कुलदेवी की आराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर कहा– "देवलोक से च्यवन कर एक जीव तुम्हारे यहां पुत्र रूप से उत्पन्न होगा।"

समय पाकर रानी को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम पुरूषसिंह रखा गया। युवावस्था प्राप्त होने पर राजा ने कुलीन एवं रूपवती कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार कर दिया।

एक दिन कुमार उद्यान में घूमने गया। वहां उसने विनयनंदन आचार्य का उपदेश सुना और उपदेश से प्रभावित होकर विरक्त हो गया। संयम लेकर उसने बीस स्थान की आराधना की, जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में समाधि के साथ कालधर्म प्राप्त कर वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

जब वैजयन्त विमान की स्थिति समापन पर आ रही थी, उस समय

१. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ७५

अयोध्या के राजा महाराज मेघ थे, जिनकी धर्मपरायणा पत्नी का नाम मंगलावती था। वैजयन्त विमान से च्युत होकर पुरूषसिंह का जीव इसी महारानी के गर्भ में स्थित हुआ। महापुरूष की माताओं की भांति ही महारानी मंगलावती ने भी चौदह शुभ स्वप्नों के दर्शन किये और वैशाख शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि को पुत्रश्रेष्ठ को जन्म दिया। जन्म के समय मघा नक्षत्र का योग था। माता-पिता और राजवंश ही नहीं सारी प्रजा राजकुमार के जन्म से प्रमुदित हो गयी। हर्षातिरेकवश महाराज मेघ ने समस्त प्रजाजन के लिये दश दिवसीय अवधि तक आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की। १

नामकरण :

भगवान् श्री सुमति के नामकरण का भी एक रहस्य है। इसके पीछे एक बुद्धि वैभव से परिपूर्ण कथानक है, जो संक्षिप्त में इस प्रकार है:—२

उस समय एक धनाढ्य व्यापारी अपनी दो पत्नियों को साथ लेकर व्यापार करने के लिये विदेश गया था। विदेश में ही एक पत्नी ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र का पालन दोनों सपत्नियों ने किया। वापस अपने घर की ओर आते हुए वह व्यापारी मार्ग में ही मर गया। अब उसकी समस्त सम्पत्ति का स्वामी उसका वह एकमात्र पुत्र था। पुत्रहीना स्त्री ने विचार किया– "यह पुत्रवाली होने से सम्पत्ति की स्वामिनी यह हो जायगी और मेरी दुर्दशा होगी।" यह विचार कर उसने कहा– 'यह पुत्र मेरा है, तेरा नहीं है।' बस इसी बात पर दोनों झगड़ती हुई अयोध्यानगरी में आई और अपना झगड़ा महाराज मेघ के सम्मुख प्रस्तुत कर न्याय करने की प्रार्थना की। राजा विचार में पड़ा गया। राजा तथा सभासदों को निर्णय का कोई आधार नहीं मिल पा रहा था। राजा ने सभा विसर्जित की और अन्तःपुर में गया।

राजा को चिंतित देख महारानी मंगलावती ने इसका कारण पूछा। महाराज मेघ ने पूरी घटना सुना दी। इस पर महारानी ने कहा-- "महाराज! स्त्रियों

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० २६
२. (१) तीर्थंकर चरित्र भाग १ पृ० १७०-१७१
(२) जैन धर्म का मौ० इति० प्र० भा० पृ० ७६-७७
(३) जैन कथामाला भाग– ४ श्री मधुकर मुनि पृ० ४६ से ५०

के विवाद का निर्णय स्त्री ही सरलता से कर सकती है। इसलिये यह विवाद आप मुझे सौंप दीजिये।"

दूसरी सभा में रानी भी उपस्थित हुई। वादी-प्रतिवादी महिलाएँ बुलवाई गई। दोनों पक्षों को सुनकर राजमहिषी ने कहा– "तुम्हारा झगड़ा साधारण नहीं है। सामान्य ज्ञान वाले से इसका निर्णय होना संभव नहीं है। मेरे गर्भ में तीर्थंकर होने वाली भव्यात्मा है, तुम कुछ महीने ठहरो। उनका जन्म हो जाने पर वे अवधिज्ञान तीर्थंकर तुम्हारा निर्णय करेंगे।"

रानी की आज्ञा विमाता ने तो स्वीकार करली, किन्तु असली माता ने नहीं मानी और बोली– "महादेवी ! इतना विलम्ब मुझसे नहीं सहा जाता। इतने समय तक मैं अपने प्रिय पुत्र को इसके पास छोड़ भी नहीं सकती। मुझे इसके अनिष्ट की शंका है। आप तीर्थंकर की माता हैं, तो आज ही इसका निर्णय करने की कृपा करें।"

महारानी ने यह बात सुनकर निर्णय कर दिया– "वास्तविक माता यही है। यह अपने पुत्र का हित चाहती है। इसका मातृ-हृदय पुत्र को पृथक् होने देना नहीं चाहता। दूसरी स्त्री तो धन और पुत्र की लोभिनी है। इसके हृदय में माता के समान वास्तविक प्रेम नहीं है। इसलिये यह इतने लम्बे काल तक अनिर्णित अवस्था में रहना स्वीकार करती है।"

इस प्रकार निर्णय करके रानी ने पुत्र वाली को पुत्र दिलवाया। सभा आश्चर्य चकित रह गई। यह कथानक उस समय का है जब भगवान् गर्भावस्था में थे।

महाराज मेघ ने गर्भकाल की इस घटना के आधार पर सुझाव दिया कि बालक का नाम सुमति रखना ठीक रहेगा तो उपस्थित जनों ने एक स्वर में उनका समर्थन किया। इस प्रकार भगवान् का नाम सुमति रखा गया।

गृहस्थावस्था :

उचित वय प्राप्ति पर महाराज मेघ ने योग्य व सुन्दर कन्याओं के साथ कुमार सुमति का विवाह किया और वार्धक्य के आगमन पर कुमार को सिंहासनारूढ़ कर स्वयं विरक्त हो गये। राजा सुमति ने अत्यन्त न्यायबुद्धि के साथ

उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग वर्षों तक शासन सूत्र संभाला। पूर्व संस्कारों के प्रभावस्वरूप उपयुक्त समय पर राजा के मन में विरक्ति का भाव प्रगाढ़ होने लगा और वे भोग कर्मों की समाप्ति कर संयम अंगीकार करने को तैयार हुए।[1]

दीक्षा एवं पारणा :

संयम का संकल्प दृढ़ होता गया और राजा सुमतिनाथ ने श्रद्धापूर्वक वर्षी-दान किया। वे स्वयं प्रबुद्ध हुए और वैशाख शुक्ला नवमी को मघा नक्षत्र के योग में राजा सुमति पंच मुष्टि लोचकर सर्वथा विरागोन्मुख हो गये, मुनि बन गये। आपके साथ एक हजार अन्य राजा भी दीक्षित हुए। दीक्षा ग्रहण करने के इस पवित्र अवसर पर आप षष्ठभक्त दो दिन के निर्जल तप में थे। आपने प्रथम पारणा विजयपुर के राजा पद्म के यहाँ किया।[2]

केवल ज्ञान व देशना :

बीस वर्षों तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए भगवान् छद्मस्थ अवस्था में विचरे। धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान से बड़ी कर्म निर्जरा की। फिर सहस्त्राम्रवन में पधारकर ध्यानावस्थित हो गये। शुक्ल ध्यान की प्रकर्षता से चार घातिक कर्मों के ईंधन को जलाकर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की।

केवलज्ञान की प्राप्ति कर भगवान् ने देव, दानव और मानवों की विशाल सभा में मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव तीर्थंकर कहलाये।[3]

धर्म परिवार :

आपका धर्म परिवार निम्नानुसार था :

गणधर	—	१००
केवली	—	१३०००

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ३०
२. वही, पृ० ३०–३१, जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा० पृ० ७७
३. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा० पृ० ७७

मनः पर्यवज्ञानी	—	१०४५०
अवधि ज्ञानी	—	११०००
चौदह पूर्वधारी	—	२४००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१८४००
वादी	—	१०६००
साधु	—	३२००००
साध्वी	—	५३००००
श्रावक	—	२८१०००
श्राविका	—	५१६०००

परिनिर्वाण :

चालीस लाख पूर्व की आयु में से भगवान् ने दस लाख पूर्व तक कुमारावस्था उनतीस लाख ग्यारह पूर्वांग राज्य पद, बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक चरित्र-पर्याय का पालन किया फिर अन्त समय निकट जानकर एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में चार अघाति कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो निर्वाण पद प्राप्त किया ।[1]

७. भगवान् श्री पद्मप्रभ (चिह्न-पद्म)

भगवान् श्री पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में सुसीमा नगरी नामक एक राज्य था। वहां के शासक महाराज अपराजित थे। धर्माचरण की दृढ़ता के लिये राजा की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। परमन्यायशीलता के साथ पुत्रवत् प्रजापालन किया करते थे। उच्च मानवीय गुणों को ही वे वास्तविक सम्पत्ति मानते थे और वे इस रूप में परम् धनाढ्य थे। वे देहधारी साक्षात् धर्म से प्रतीत होते थे। सांसारिक वैभव व भौतिक सुख-सुविधाओं को वे अस्थिर मानते थे। इसका निश्चय भी उन्हें हो गया था कि मेरे साथ भी इसका संग सदा-सदा का नहीं है। इस तथ्य को हृदयंगम कर उन्होंने भावी कष्टों की कल्पना को ही निर्मूल कर देने की योजना पर विचार प्रारम्भ किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लिया कि मैं ही आत्मबल की वृद्धि कर लूं। पूर्व इसके कि ये बाह्य-सुखोपकरण मुझे अकेला छोड़कर चले जाएँ, मैं ही स्वेच्छा से इन सब का त्याग कर दूं। यह संकल्प उत्तरोत्तर प्रबल होता ही जा रहा था कि उन्हें विरक्ति की अति सशक्त प्रेरणा अन्य दिशा से और मिल गई। उन्हें मुनि पिहिताश्रव के दर्शन करने और उनके उपदेशामृत का पान करने का सुयोग मिला। राजा को मुनि का चरणाश्रय प्राप्त हो गया। महाराज अपराजित ने मुनि के आशीर्वाद के साथ संयम स्वीकार कर अपना साधक जीवन प्रारम्भ किया। उन्होंने अर्हत् भक्ति आदि अनेक आराधनाएँ की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर आयु समाप्ति पर ३१ सागर की परम स्थिति युक्त ग्रैवेयक देव बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।[1]

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ३२

जन्म एवं माता-पिता :

देवभव की स्थिति पूर्ण कर अपराजित का जीव कौशांवी नगरी के राजा धर के यहां तीर्थंकर रूप में उत्पन्न हुआ। वह माघ कृष्णा षष्ठी का दिन था। चित्रा नक्षत्र में देवलोक से निकलकर वह माता सुसीमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी सुसीमा ने चौदह महाशुभ स्वप्न भी देखे।

फिर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन चित्रा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र रत्न को जन्म दिया। जन्म के प्रभाव से लोक में सर्वत्र शांति और हर्ष की लहर दौड़ गई।१

नामकरण :

बालक परम तेजोमय और कमल (पद्म) की प्रभा जैसी शारीरिक कांति-वाला था। कहा जाता है कि शिशु के शरीर से स्वेद गंध के स्थान पर कमल की सुरभि प्रसारित होती थी। इस अनुपम, रूपवान, मृदुल और सुवासित गात्र शिशु को स्पर्श करने, उसकी सेवा करने का लोभ देवांगनाएं भी संवरण न कर पाती थीं और वे दासियों के रूप में राजभवन में आती थीं। गर्भकाल में माता को कमल की शैय्या पर सोने का दोहद भी उत्पन्न हुआ था। इसलिये बालक का नाम पद्मप्रभ रखा गया।२

गृहस्थावस्था :

जब पद्मप्रभ ने यौवन में प्रवेश किया तब महाराज धर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका विवाह किया। आठ लाख पूर्व कुमार पद में रहकर आपने राज्य ग्रहण किया। इक्कीस लाख पूर्व से अधिक राज्य पद पर रहकर इन्होंने न्यायनीति से प्रजा का पालन किया और नीति धर्म की शिक्षा दी।3

दीक्षा एवं पारणा :

सदाचारपूर्वक और पुण्य कर्म करते हुए एवं गृहस्थधर्म और राजधर्म की

१. जैनधर्म का मौ० इ०, प्र० भा०, पृ० ७६
२. (१) त्रिषष्टि., ३।४।३८,५१, (२) च० महा० पु० च० पृ० ८३,
३. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ८०

पालना करते हुए अशुभ कर्मों का क्षय हो जाने पर प्रभु-मोक्ष लक्ष्य की ओर उन्मुख हुए। वर्षीदान सम्पन्न कर पष्ठभक्त दो दिन के निर्जल तप के साथ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। वह कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। आपके साथ अन्य एक हजार पुरुषों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। ब्रह्मस्थल में वहां के राजा सोमदेव के यहां प्रभु का प्रथम पारणा हुआ।[1]

केवलज्ञान एवं देशना :

भगवान् श्री पद्मप्रभ छः माह तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थावस्था में विचरण करते रहे। फिर विहार करते हुए सहस्राम्रवन में पधारे। मोह कर्म को तो आप प्रायः क्षीण कर चुके थे। शेष कर्मों की निर्जरा के लिये पष्ठ भक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर शुक्ल ध्यान से घाति कर्मो का क्षय किया और चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरांत प्रभु ने धर्म-देशना देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं आप अनन्त चतुष्टय (अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य) के धारक होकर लोकालोक के ज्ञाता, दृष्टा और भाव-तीर्थंकर हो गये।[2]

धर्म-परिवार :

गणधर	—	१०७
केवली	—	१२०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	१०३००
अवधिज्ञानी	—	१००००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१६८००
वादी	—	९६००
साधु	—	३३००००
साध्वी	—	४२००००
श्रावक	—	२७६०००
श्राविका	—	५०५०००

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ३४
२. जैन धर्म का मौ० इति० प्र० भा०, पृ० ८०

परिनिर्वाण :

जीव और जगत के कल्याण के लिये वर्षों तक प्रभु ने जनमानस को अनुकूल बनाया और सन्मार्ग की शिक्षा दी। तीस लाख पूर्व वर्ष की आयु में प्रभु सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। आपको दुर्लभ निर्वाण पद की प्राप्ति हो गई। यह दिन मृगशिर कृष्णा एकादशी[1] का दिन था और चित्रा नक्षत्र था।

आपका निर्वाण सम्मेद् शिखर पर तीन सौ आठ मुनियों के साथ हुआ।[2]

आप सोलह पूर्वांग कम साढ़े सात लाख पूर्व तक कुमार रहे, इक्कीस लाख पूर्व तक राज्य किया और कुछ कम एक लाख पूर्व तक चारित्र धर्म का पालन किया। इस प्रकार प्रभु का कुल आयुष्य तीस लाख पूर्व का था।

⊙

१. सत्तरिसय द्वार, गा० ३०६-३१०
२. तीर्थंकर चरित्र, भाग०१, पृ० १८

८. भगवान् श्री सुपार्श्व (चिह्न-स्वस्तिक)

आप सातवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

क्षेमपुरी नगरी के योग्य शासक थे श्री नन्दीषेण। उस धर्मात्मा राजा को संसार से वैराग्य हो गया और उसने अरिदमन, नामक आचार्य के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की। संयम एवं तप की उत्तम भावना में रमण करते हुए नन्दीषेण मुनि ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर नन्दीषेण छठे ग्रैवेयक में देव हुए। उनका आयुष्य अट्ठाइस सागरोपम था।1

जन्म एवं माता-पिता :

ग्रैवेयक से निकलकर नन्दीषेण का जीव भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में वाराणसी नगरी के महाराज प्रतिष्ठसेन की महारानी पृथ्वी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी पृथ्वी ने महापुरुषों के जन्म सूचक चौदह मंगलकारी शुभ-स्वप्न देखे।

विधि पूर्वक गर्भकाल पूर्णकर माता ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के विशाखा नक्षत्र में पुत्ररत्न को जन्म दिया।

नामकरण :

गर्भकाल में माता पृथ्वी के पार्श्व शोभित रहे। इसलिये महाराज प्रतिष्ठसेन ने इसी बात को विचार कर बालक का नाम सुपार्श्व रखा।2

१. तीर्थंकर चरित्र, भा० १, पृ. १८५
२. च० महा० पु० च०, पृ० ८६

गृहस्थावस्था :

बाह्य आचरण में सांसारिक मर्यादाओं का भलीभांति पालन करते हुए भी अपने अन्तःकरण में वे अनासक्ति और विरक्ति को ही पोषित करते चले। योग्य वय प्राप्ति पर श्रेष्ठ सुन्दरियों के साथ पिता महाराज प्रतिष्ठसेन ने आपका विवाह करवाया। आसक्ति और काम के उत्तेजक परिवेश में रहकर भी आप सर्वथा उससे अप्रभावित ही रहे। आप उन सबको अहितकर मानते थे और सामान्य से भिन्न वे सर्वथा तटस्थता का व्यवहार रखते थे, न वैभव में उनकी रुचि थी, न रूप के प्रति आकर्षण का भाव। महाराज प्रतिष्ठसेन ने कुमार सुपार्श्व को सिंहासनारूढ़ भी कर दिया था, किन्तु अधिकार सम्पन्नता एवं प्रभुत्व उनमें रंचमात्र भी मद उत्पन्न नहीं कर सका। इस अवस्था को भी वे मात्र दायित्व पूर्ति का बिन्दु मानकर चले, भोग विलास का आधार नहीं।[1]

दीक्षा एवं पारणा :

जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण देखा तो संयम ग्रहण की इच्छा की।

आप लोकांतिक देवों की प्रार्थना पर वर्ष भर दान देने के उपरांत ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा के लिये निकल पड़े। षष्ठ भक्त की तपस्या के साथ उद्यान में पहुंचकर प्रभु ने पंचमुष्टि लोच करके सर्वथा पापों का त्याग कर, मुनिव्रत ग्रहण किया। पाटली खण्ड के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहां उनका पारणा सम्पन्न हुआ।[2]

केवलज्ञान एवं देशना :

नौ महीने तक छद्मस्थ रहने के उपरांत विहार करते हुए आप पुनः वाराणसी के सहस्राम्रउद्यान में पधारे और छठ की तपस्या कर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यान में लीन हो गये। फाल्गुन कृष्णा अष्टमी के दिन प्रथम प्रहर में विशाखा नक्षत्र के योग में मोहनीय आदि चार धनघाति कर्म के क्षय होने पर प्रभु को केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हुआ। भगवान् को केवलज्ञान होते ही चौंसठ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। उन्होंने भगवान् के दर्शन व

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ३७
२. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र० भा०, पृ० ८२-८३.

८. भगवान् श्री चन्द्रप्रभ (चिह्न-चन्द्र)

भगवान् श्री सुपार्श्व के बाद भगवान् श्री चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :–

धातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह में मंगलावती विजय में रत्नसंचया नामक नगरी थी। वहां पद्म नामक राजा का राज्य था। उसने युगंधर मुनि के पास चारित्र ग्रहण का अद्भुत तप कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। आयुष्य पूर्ण होने पर वैजयन्त नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

वैजयंत विमान से निकलकर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहां गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि में उत्कृष्ट फलदायक चौदह महा-शुभ स्वप्न देखे।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौष कृष्णा द्वादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में अर्द्धरात्रि के समय पुत्र रत्न को जन्म दिया। देव-देवेन्द्र ने अति पाण्डु-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक बड़े उल्लास एवं उत्साह-पूर्वक मनाया।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने जन्मतिथि पौष कृष्णा त्रयोदशी लिखी है।[3]

नाम करण :

गर्भकाल में माता रानी सुलक्षणा ने चन्द्र पान की अपनी अभिलाषा को

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० १८८
२. जैन धर्म का मौ. इति., प्र. भा. पृ. ६५
३. त्रिषष्टि., ३।६।३२

पूरा किया था और नवजात शिशु की कांति भी चंद्रमा के समान शुभ्र और दीप्तिमान थी। अतः बालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा गया।[1]

गृहस्थावस्था:

युवा होने पर राजा महासेन ने उत्तम राज्य कन्याओं से प्रभु का पाणिग्रहण करवाया। ढाई लाख पूर्व तक युवराज पद पर रहकर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छः लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीतिधर्म का प्रसार करते रहे। इनके राज्यकाल में प्रजा सर्वभांति सुख-सम्पन्न थी और कर्त्तव्य-मार्ग का पालन करती रही।[2]

दीक्षा एवं पारणा :

उनके जीवन में वह पल शीघ्र ही आगया जब भोग कर्मों का क्षय हुआ। राजा चन्द्रप्रभ ने वैराग्य धारण कर दीक्षा ग्रहण कर लेने का संकल्प व्यक्त किया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर वर्षीदान के पश्चात् उत्तराधिकारी को शासन-सूत्र सौंपकर अनुराधा नक्षत्र के श्रेष्ठ योग में प्रभु चन्द्रप्रभस्वामी ने पौष कृष्णा त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण की। आगामी दिवस को पद्मखण्ड नरेश सोमदत्त के यहां पारणा हुआ।

केवल ज्ञान एवं देशना :

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ ने तीन महीने तक छद्मकाल में विहार किया और पुनः चन्द्रपुरी नगरी में सहस्राम्रवन में पधारे। वहां पुन्नाग वृक्ष के नीचे ध्यान में लीन हो गये। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन अनुराधा नक्षत्र में छठ की तपस्या में ध्यान की परमोच्च अवस्था में भगवान् ने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया।[3] भगवान् ने समवसरण के मध्य विराजकर देशना प्रदान की और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय में रहकर प्रभु ने लाखों जीवों का कल्याण किया।[4]

१. त्रिषष्टि., ३।६।४९
२. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र० भा०, पृ० ८६-८७
३. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० १८९
४. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा० पृ० ८६

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	९३ दत्त आदि
केवली	—	१००००
मनःपर्यवज्ञानी	—	८०००
अवधिज्ञानी	—	८०००
चौदह पूर्वधारी	—	२०००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१४०००
वादी	—	७६००
साधु	—	२५००००
साध्वी	—	३८००००
श्रावक	—	२५००००
श्राविका	—	४९१०००

परिनिर्वाण :

प्रभु चौबीस पूर्वांग और तीन महीने कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर रूप में विचरते हुए भव्य जीवों का उपकार करते रहे। फिर मोक्ष काल निकट आने पर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर्वत पर एक मास के अनशन से भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को श्रावण नक्षत्र में सिद्ध गति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयुष्य दस लाख पूर्व का था।[1]

⊙

१. तीर्थंकर चरित्र, भाग १, पृ० १९०

१०. भगवान् श्री सुविधि (चिह्न-मकर)

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ के उपरांत भगवान् श्री सुविधि नवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व महाविदेह में 'पुष्कलावती' नामक विजय में 'पुण्डरीकिणी' नामक नगरी थी। वहां महापद्म नामक राजा का राज्य था। उसने जगन्नंद नामक आचार्य के पास संयमव्रत अंगीकार किया। दीक्षोपरांत पद्म मुनि ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय में अनशनपूर्वक देहोत्सर्ग कर वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहां उन्होंने तैंतीस सागरोपम की आयु प्राप्त की।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

काकन्दी नगरी के महाराज सुग्रीव इनके पिता और रामादेवी इनकी माता थी।

वैजयन्त विमान से निकलकर महापद्म का जीव फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में माता रामादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि में चौदह मंगलकारी महाशुभ स्वप्न देखे। महाराज सुग्रीव से स्वप्नों का फल सुनकर वह आनंदित हो गई।

गर्भकाल पूर्ण कर माता रामादेवी ने मृगशिर कृष्णा पंचमी को मध्यरात्रि के समय मूल नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्र रत्न को जन्म दिया। माता-पिता एवं नरेन्द्र-देवेन्द्रों ने जन्मोत्सव हर्षोल्लासपूर्वक मनाया।

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० १६१

नामकरण :

महाराज सुग्रीव ने विचार किया कि जब तक बालक गर्भ में रहा, तब तक माता रामादेवी सभी प्रकार से कुशल रही है। अतः बालक का नाम सुविधि रखा जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद भी उत्पन्न हुआ था, इस कारण बालक का एक अन्य नाम पुष्पदन्त रखना चाहिये। इस प्रकार बालक के दो नाम सुविधि एवं पुष्पदन्त रखे गये।[1]

गृहस्थावस्था :

गृहस्थ जीवन को भगवान् श्री सुविधि ने एक लौकिक दायित्व के रूप में ग्रहण किया और तटस्थभाव से उन्होंने उसका निर्वाह भी किया। तीव्र अनासक्ति होते हुए भी अभिभावकों के आदेश का आदर करते हुए उन्होंने विवाह किया। सत्ता का भार भी संभाला किन्तु स्वभावतः वे चिंतन की प्रवृत्ति में ही प्रायः लीन रहा करते थे।

उत्तराधिकारी के परिपक्व हो जाने पर महाराज सुविधि ने शासन कार्य उसे सौंप दिया और आप अपने पूर्व निश्चित पथ पर अग्रसर हुए[2]

दीक्षा एवं पारणा :

राज्य काल के उपरांत प्रभु ने संयम ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षीदान देकर प्रभु ने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सुरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्राम्रवन में पहुंचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होंने मनः पर्यवज्ञान प्राप्त किया।

श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा हुआ और देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।[3]

१. त्रिषष्टि०, ३।७।४६-५०
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य० पृ० ४५
३. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ८६

केवलज्ञान :

चार माह तक प्रभु विविध कष्टों को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। फिर सहस्राम्रउद्यान में आकर प्रभु ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया और शुक्लध्यान से घाति कर्मों का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्त्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र में केवल ज्ञान की प्राप्ति की।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद देव-मानवों की सभा में प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाये।[1]

धर्म-परिवार :

गणधर	—	८८
केवली	—	७५००
मनः पर्यवज्ञानी	—	७५००
अवधिज्ञानी	—	८४००
चौदह पूर्वधारी	—	१५००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१३०००
वादी	—	६०००
साधु	—	२०००००
साध्वी	—	१२००००
श्रावक	—	२२९०००
श्राविका	—	४७२०००

परिनिर्वाण :

आयुष्यकाल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ पधारे। एक मास का अनशन हुआ और कार्तिक कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में अट्ठाइस पूर्वांग और चार मास कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद भोग कर मोक्ष पधारे। प्रभु का कुल आयुष्य दो लाख पूर्व का था।[2]

१. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० ८९

२. तीर्थंकर चरित्र - प्रथम भाग, पृ० १९७

विशेष :

भगवान् श्री सुविधि और दसवें तीर्थंकर भगवान् श्री शीतल के प्रादुर्भाव के मध्य की अवधि धर्म तीर्थ की दृष्टि से बड़ी शिथिल रही। यह तीर्थ विच्छेद काल कहलाता है। इस काल में जनता धर्मच्युत होने लगी थी। श्रावक गण मनमाने ढंग से दान आदि धर्म का उपदेश देने लगे। 'मिथ्या' का प्रचार प्रबलतर हो गया था। कदाचित् यही काल ब्राह्मण संस्कृति के प्रसार का समय रहा था।[1]

संयत ही वंदनीय - पूजनीय है पर नवें तीर्थंकर श्री सुविधि के शासन में श्रमण-श्रमणी के अभाव में असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।[2] ⊙

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ४६
२. ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० २१०

११. भगवान् श्री शीतल (चिह्न - श्रीवत्स)

भगवान् श्री सुविधि के बाद भगवान् श्री शीतल दसवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

प्राचीनकाल में सुसीमा नगरी नामक राज्य था, जहां के नृपति महाराज पद्मोत्तर थे। राजा ने सुदीर्घकाल तक प्रजापालन का कार्य न्यायपूर्वक किया। अन्त में उनके मन में विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ और आचार्य त्रिस्ताघ के आश्रम में उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया। अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि के तप और साधनाओं के द्वारा उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। देहावसान के उपरांत उनके जीव को प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में स्थान मिला।१

जन्म और माता-पिता :

वैशाख कृष्णा षष्ठी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में प्राणत स्वर्ग से चलकर पद्मोत्तर का जीव भद्दिलपुर के महाराज दृढ़रथ की महारानी नन्दादेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी नन्दादेवी ने चौदह मंगलकारी महाशुभ स्वप्न देखे। उसने महाराज के पास जाकर स्वप्नों का फल पूछा। यह सुनकर कि वह एक महान पुण्यशाली पुत्र को जन्म देने वाली है, महारानी अत्यधिक प्रसन्न हुई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माता महारानी नन्दादेवी ने माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्म से सम्पूर्ण संसार में शांति एवं आनंद की लहर फैल गई। महाराज दृढ़रथ ने पूर्ण हर्षोल्लासपूर्वक जन्मोत्सव मनाया।२

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ४८
२. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र० भा० पृ० ६१

नामकरण :

महाराज दृढ़रथ दाह ज्वर से पीड़ित थे, जो अतिशय पीड़ादायक था। अनेकानेक उपचार करवाने पर भी यह रोग शांत नहीं हुआ था। किन्तु गर्भ-काल में महारानी के सुकोमल कर के स्पर्श मात्र से महाराज की यह व्याधि शान्त हो गयी और उन्हें अपार शीतलता का अनुभव हुआ। बस इसी आधार पर सबने बालक का नाम शीतल रख दिया।१

गृहस्थावस्था :

युवराज अपार वैभव और सुख-सुविधा के वातावरण में पले थे। आयु के साथ ही साथ उनका पराक्रम और विवेक भी विकसित होने लगा। सामान्यजनों की भांति ही दायित्वपूर्ति की भावना से उन्होंने गृहस्थाश्रम के बंधनों को स्वीकार किया। महाराज दृढ़रथ ने योग्य एवं सुन्दरी राजकन्याओं के साथ आपका विवाह करवाया। दाम्पत्य जीवन में रहते हुए भी वे अनासक्त और निर्लिप्त बने रहे। दायित्वपूर्ति की भावना से ही पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर राज्यासन भी ग्रहण किया। राजा बनकर उन्होंने अत्यन्त विवेक के साथ निःस्वार्थ भाव से प्रजापालन का कार्य किया। पचास हजार पूर्व तक महाराज शीतल ने शासन का संचालन किया। भोगावली कर्म पूर्ण हो जाने पर आपने संयम धारण करने की भावना व्यक्त की।२

दीक्षा एंव पारणा :

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ होकर प्रभु सहस्राम्रवन में पहुंचे और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में षष्ठ भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पापकर्मों का परित्याग कर मुनि बन गये।

श्रमण दीक्षा लेते ही इन्होंने मनः पर्यवज्ञान प्राप्त किया। तप का अरिष्टपुर के महाराज पुनर्वसु के यहां परमान्न से इनका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।3

१. त्रिषष्टि०, ३।८।४७
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ४६
३. जैन धर्म का मौ० इति., प्र० भा०, पृ० ६२

केवलज्ञान :

तीन महीने तक छद्मस्थकाल में विचरकर भगवान् श्री शीतल भद्दिलपुर नगर के सहस्राम्रउद्यान में पधारे। वहां पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान में लीन हो गये। पौष कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के योग में घनघाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। देवताओं ने प्रभु का केवलज्ञान उत्सव मनाया। भगवान् ने समवसरण के बीच एक हजार अस्सी धनुष ऊंचे चैत्य वृक्ष के नीचे रत्नसिंहासन पर विराजकर उपदेश दिया। भगवान् का उपदेश सुनकर आनंद आदि ८१ व्यक्तियों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर पद प्राप्त किया।[1] भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	८१
केवली	—	७०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	७५००
अवधि ज्ञानी	—	७२००
चौदह पूर्वधारी	—	१४००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१२०००
वादी	—	५८००
साधु	—	१०००००
साध्वी	—	१००००६
श्रावक	—	२८९०००
श्राविका	—	४५८०००

परिनिर्वाण :

मोक्षकाल निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक मास का संथारा किया। वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में प्रभु परमसिद्धि को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयुष्य एक लाख पूर्व का था।[2] कुछ कम पच्चीस हजार वर्ष तक प्रभु ने संयम का पालन किया।[3]

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र पृ० १६४
२. तीर्थंकर चरित्र, प्र. भा., पृ. २०१
३. जैन धर्म का मौ. इ. प्र. भा., पृ. ६३

विशेष :

भगवान् श्री शीतल के बाद और भगवान् श्री श्रेयांस के पूर्व हरिवंश कुलोत्पत्ति :- हरि और हरिणी रूप युगल को देखकर एक देव को पूर्व जन्म के बैर की स्मृति हो आई। उसने सोचा— "ये दोनों यहां भोग-भूमि में सुख भोग रहे हैं और आयु पूर्ण होने पर देवलोक में जायेंगे। अतः ऐसा यत्न करूं कि जिससे इनका परलोक दुःखमय हो जाय।" उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊंचाई सौ धनुष कर दी, आयु भी घटाई और दोनों को भरत क्षेत्र की चम्पानगरी में लाकर छोड़ दिया। वहां के भूपति का वियोग होने से हरि को अधिकारियों द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनों ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनों मरकर नरक में उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक में नहीं गये, दोनों हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।[1]

⊙

१. (१) ऐति. के तीन तीर्थंकर, पृ. २१०
(२) च. म. च. पृ. १८०, (३) वासुदेव हिण्डी खं. १, भाग २ पृ. ३५७
(४) तीर्थंकर चरित्र भाग २ पृ. २ से ५

१२. भगवान् श्री श्रेयांस (चिह्न–गेंडा)

तीर्थंकर परम्परा में भगवान् श्री श्रेयांस का ग्यारहवां स्थान है।

पूर्वभव :

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व विदेह के कच्छविजय में क्षेमा नामक नगरी थी। वहां के राजा का नाम नलिनी गुल्म था। वह अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति था। एक बार क्षेमा नगरी में वज्रदत्त नामक आचार्य का आगमन हुवा महाराजा नलिनी गुल्म आचार्य का आगमन सुनकर उनके दर्शन के लिये गये। आचार्य का उपदेश सुनकर उन्होंने संयमव्रत अंगीकार कर लिया। वे मुनि वन गये। प्रव्रज्या ग्रहण करके उन्होंने कठोर तप किया और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त में बहुत समय तक चारित्र का पालन करते हुए आयु पूर्ण की और मरकर महाशुक्ल नामक देवलोक में महार्द्धिक देव हुए।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रावण नक्षत्र में नलिनीगुल्म का जीव स्वर्ग से चलकर भारतवर्ष की भूषणस्वरूपा नगरी सिंहपुरी के अधिनायक महाराज विष्णु की पत्नी सद्गुणधारिणी महारानी विष्णुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात में चौदह महाशुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपके जन्म-काल के समय सर्वत्र सुख, शांति और हर्षोल्लास का वातावरण फैल गया।[2]

नामकरण :

बालक के जन्म से न केवल राजपरिवार वरन् समस्त राष्ट्र का कल्याण

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १६५
२. जैनधर्म का मौ. इ., प्र. भा. पृ. ६१

(श्रेय) हुआ। इस कारण बालक का नाम श्रेयांसकुमार रखा गया।

गृहस्थावस्था :

पिता महाराज विष्णु के अत्यधिक आग्रह करने पर श्रेयांसकुमार ने योग्य, सुन्दरी, नृप कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया। उचित वय प्राप्ति पर महाराज विष्णु ने कुमार को राज्यारूढ़ कर उन्हें प्रजा पालन का सेवाभार सौंपकर स्वयं साधना मार्ग पर अग्रसर हो गये। राजा के रूप में श्रेयांसकुमार ने अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतः पालन किया। प्रजा के जीवन की दुःख और कठिनाइयों से रक्षा करना-मात्र यही उनके राजत्व का प्रयोजन था। सत्ता का उपभोग और विलासी जीवन व्यतीत करना उनके जीवन का कभी लक्ष्य नहीं रहा। उनके राज में प्रजा सभी प्रकार से प्रसन्न और संतुष्ट थी। जब आपके पुत्र दायित्व ग्रहण करने के लिये योग्य और सक्षम हुए तो उन्हें राज्यभार सौंपकर आत्म-कल्याण की साधना के पथ पर अग्रसर होने की उन्होंने इच्छा व्यक्त की।[1]

दीक्षा एवं पारणा :

जब आपने संयम ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की; तब लोकांतिक देवों ने अपनी मर्यादा के अनुसार आकर प्रभु से प्रार्थना की। परिणामस्वरूप वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओं के साथ बेले की तपस्या में राजमहल से दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रावण नक्षत्र में सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की।

सिद्धार्थपुर में राजा नन्द के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा सम्पन्न हुआ।[2]

केवलज्ञान :

दीक्षोपरांत भीषण उपसर्गों एवं परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए, अचंचल मन से साधनारत प्रभु ने विभिन्न बस्तियों में विहार किया। माघ

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ. ५३
२. जैनधर्म का मौ. इति., प्र. भा. पृ. ६५

१२. भगवान् श्री श्रेयांस (चिह्न–गेंडा)

तीर्थंकर परम्परा में भगवान् श्री श्रेयांस का ग्यारहवां स्थान है।

पूर्वभव :

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व विदेह के कच्छविजय में क्षेमा नामक नगरी थी। वहां के राजा का नाम नलिनी गुल्म था। वह अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति था। एक बार क्षेमा नगरी में वज्रदत्त नामक आचार्य का आगमन हुवा महाराजा नलिनी गुल्म आचार्य का आगमन सुनकर उनके दर्शन के लिये गये। आचार्य का उपदेश सुनकर उन्होंने संयमव्रत अंगीकार कर लिया। वे मुनि बन गये। प्रव्रज्या ग्रहण करके उन्होंने कठोर तप किया और तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त में बहुत समय तक चारित्र का पालन करते हुए आयु पूर्ण की और मरकर महाशुक्ल नामक देवलोक में महार्द्धिक देव हुए।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रावण नक्षत्र में नलिनीगुल्म का जीव स्वर्ग से चलकर भारतवर्ष की भूषणस्वरूपा नगरी सिंहपुरी के अधिनायक महाराज विष्णु की पत्नी सद्गुणधारिणी महारानी विष्णुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात में चौदह महाशुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपके जन्म-काल के समय सर्वत्र सुख, शांति और हर्षोल्लास का वातावरण फैल गया।[2]

नामकरण :

बालक के जन्म से न केवल राजपरिवार वरन् समस्त राष्ट्र का कल्याण

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १६५
२. जैनधर्म का मौ. इ., प्र. भा. पृ. ६४

(श्रेय) हुआ। इस कारण बालक का नाम श्रेयांसकुमार रखा गया।

गृहस्थावस्था :

पिता महाराज विष्णु के अत्यधिक आग्रह करने पर श्रेयांसकुमार ने योग्य, सुन्दरी, नृप कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया। उचित वय प्राप्ति पर महाराज विष्णु ने कुमार को राज्यारूढ़ कर उन्हें प्रजा पालन का सेवाभार सौंपकर स्वयं साधना मार्ग पर अग्रसर हो गये। राजा के रूप में श्रेयांसकुमार ने अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतः पालन किया। प्रजा के जीवन की दुःख और कठिनाइयों से रक्षा करना-मात्र यही उनके राजत्व का प्रयोजन था। सत्ता का उपभोग और विलासी जीवन व्यतीत करना उनके जीवन का कभी लक्ष्य नहीं रहा। उनके राज में प्रजा सभी प्रकार से प्रसन्न और संतुष्ट थी। जब आपके पुत्र दायित्व ग्रहण करने के लिये योग्य और सक्षम हुए तो उन्हें राज्यभार सौंपकर आत्म-कल्याण की साधना के पथ पर अग्रसर होने की उन्होंने इच्छा व्यक्त की।[1]

दीक्षा एवं पारणा :

जब आपने संयम ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की; तब लोकांतिक देवों ने अपनी मर्यादा के अनुसार आकर प्रभु से प्रार्थना की। परिणामस्वरूप वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओं के साथ वेले की तपस्या में राजमहल से दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रावण नक्षत्र में सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की।

सिद्धार्थपुर में राजा नन्द के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा सम्पन्न हुआ।[2]

केवलज्ञान :

दीक्षोपरांत भीषण उपसर्गों एवं परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए, अचंचल मन से साधनारत प्रभु ने विभिन्न बस्तियों में विहार किया। माघ

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ. ५३
२. जैनधर्म का मौ. इति., प्र. भा. पृ. ६५

कृष्णा अमावस्या के दिन क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर उन्होंने मोह को पराजित कर दिया और शुक्लध्यान द्वारा समस्त घाती कर्मों का क्षय कर षष्ठ तप में केवलज्ञान– केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

समवसरण में देव-मानवों के अपार समुदाय को प्रभु ने केवली बनकर प्रथम धर्म देशना प्रदान की। प्रभु ने चतुर्विध संघ स्थापित किया एवं भाव-तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित हुए।[1]

धर्मप्रभाव :

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् प्रभु उस समय की राजनीति के केन्द्र पोतनपुर पधारे। पोतनपुर त्रिपृष्ठ वासुदेव की राजधानी थी। उद्यान के रक्षक ने आकर वासुदेव को शुभ संवाद दिया – "महाराज तीर्थंकर श्री श्रेयांस अपने नगर के उद्यान में पधारे हैं।" अचानक यह संवाद सुनकर वासुदेव हर्षविभोर हो गये। इस खुशी में उन्होंने इतना पुरस्कार दिया कि कि वह रक्षक धन-सम्पन्न हो गया। वासुदेव और उनके बड़े भाई अचल बलदेव प्रभु के दर्शन करने आये। प्रभु ने मानव के कर्त्तव्यों का विवेचन-विश्लेपण करते हुए हृदयस्पर्शी उपदेश दिया।

वासुदेव त्रिपृष्ठ इस कालचक्र के पहले वासुदेव थे। वे अत्यन्त पराक्रमी और कठोर शासक थे। उनकी भुजाओं में अद्भुत बल था। एक बार एक भयंकर क्रूर सिंह से निःशस्त्र होकर मुकाबला किया और सिंह के जबड़े पकड़कर यों चीर डाले जैसे पुराना कपड़ा चीर रहे हों। उस समय के क्रूर और अत्याचारी शासक अश्वग्रीव (प्रति वासुदेव) के आतंक से प्रजा को मुक्त कर वे तीन खण्ड के एक छत्र सम्राट वासुदेव बने थे। आज्ञा के उल्लंघन के अपराध में उन्होंने शय्यापालक के कान में खौलता हुआ सीसा उंडेलवा दिया था। जिससे उनको सातमी नरक में जाने का आयुष्य बंधा।

जब वासुदेव त्रिपृष्ठ ने प्रभु श्री श्रेयांस की देशना सुनी तो सहसा प्रकाश-सा उनके हृदय में छा गया। राजनीति के वे धुरंधर थे किन्तु आत्मविद्या में आज भी बालक थे। प्रभु का उपदेश सुनकर दया, करुणा, समता और भक्ति के भाव उनके हृदय में जाग्रत हो उठे। संस्कारों के इस परिवर्तन से वासुदेव

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. ५३

के अन्तर जगत में अपूर्व परिवर्तन आ गया। जैसे अंधकार से प्रकाश में आ गये।[1]

हजारों स्त्री पुरुषों ने श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म स्वीकार किया और प्रभु के उपदेश को जीवन में उतारा।

धर्म-परिवार :

गणधर	—	७६
केवली	—	६०००
अवधिज्ञानी	—	६०००
चौदह पूर्वधारी	—	१३००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	११०००
वादी	—	५०००
साधु	—	८४०००
साध्वी	—	१०३०००
श्रावक	—	२७६०००
श्राविका	—	४४८०००

परिनिर्वाण :

अपने निर्वाणकाल के समीप भगवान् सम्मेदशिखर पर पधारे। श्रावण कृष्णा तृतीया के दिन धनिष्ठा नक्षत्र में एक मास का अनशन कर एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान् ने कुमारवय में इक्कीस लाखवर्ष, राज्य पदपर ४२ लाखवर्ष, दीक्षा पर्याय में इक्कीसलाख इस प्रकार भगवान् ने चौरासीलाख वर्ष की कुल आयु में सिद्धत्व प्राप्त किया। भगवान् श्री शीतल के बाद ६६ लाख ३६ हजार वर्ष तथा सौ सागरोपम कम एक कोटी सागरोपम व्यतीत होने पर भगवान् श्री श्रेयांस ने निर्वाण प्राप्त किया।[2]

१. जैन कथामाला, भाग ५, पृ. ४ से ६
२. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १६७
(समवायोग–८४)

१३. भगवान् श्री वासुपूज्य (चिह्न-महिष)

वारहवें तीर्थंकर भगवान् श्री वासुपूज्य हुए।

पूर्वभव :

पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के मंगलावती विजय में रत्नसंचया नामक नगरी थी। वहां के शासक का नाम पद्मोत्तर था। वज्रनाभ मुनि के समीप उसने चारित्र ग्रहण किया। संयम और तप की उत्कृष्ट भावों से आराधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्तिम समय में समाधिपूर्वक देह-त्याग कर वे प्राणतकल्प में महर्द्धिक देव बने।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

प्राणत स्वर्ग से निकल कर पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और महारानी जयादेवी माता थी। ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जयादेवी की कुक्षि में गर्भ-रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता जयादेवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे। उचित आहार विहार से माता ने गर्भ-काल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।[2]

नामकरण :

महाराजा वसुपूज्य के पुत्र होनें के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया।

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. १९८
२. जैनधर्म कामौ० इ०, प्र० भा०, पृ० ९९

गृहस्थावस्था :

आचार्य हेमचन्द्र और जिनसेनाचार्य आदि के अनुसार तो आपने अविवाहितावस्था में राज्य-ग्रहण किये बिना ही दीक्षाव्रत अंगीकार किया किन्तु आचार्य शीलांक के अनुसार दार-परिग्रह करने और कुछ काल तक राज्यपालन करने के बाद आप दीक्षित हुए।1 भगवान् वासुपूज्य कुमारावस्था में ही दीक्षित हुए।2

वास्तव में तीर्थंकर की गृहचर्या भोग्यकर्म के अनुसार ही होती है, अतः उनका विवाहित होना या न होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। विवाह से तीर्थंकर की तीर्थंकरता में कोई बाधा नहीं आती।3

दीक्षा एवं पारणा :

मर्यादानुरूप लोकान्तिक देवों ने भगवान् श्री वासुपूज्य से धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। आपने एक वर्ष तक उदारतापूर्वक दान दिया। वर्षी-दान के सम्पन्न हो जाने पर जब आपने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया तो उस महान् और अनुपम त्याग को देखकर जनमन गद्गद् हो उठा था। आपने समस्त पापों का क्षय कर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र में श्रमणत्व अंगीकार कर लिया। महापुर नरेश सुनंद के यहां आपका प्रथम पारणा हुआ।४

केवलज्ञान :

दीक्षा लेकर भगवान् तपस्या करते हुए छद्मस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर पाटलवृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में चार घाति कर्मों का क्षय कर माघ शुक्ला द्वितीया को शतभिषा नक्षत्र के योग में प्रभु ने चतुर्थ भक्त (उपवास) से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

१. च० महा० पु० चरि०, पृ० १०४ तओ कुमार भावमणुवालिऊण किंचि-कालंकयदार परिग्गहो राय सिरिमणुपालिऊण —
२. ठाणांग सूत्र ५ वां ठाणा
३. जैनधर्म का मौ० इ०, प्र० भा० पृ० १००
४. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ५६

केवली होकर भगवान् ने देव-असुर-मानवों की विशाल सभा मे धर्म-देशना दी जिसमें दशविध धर्म का स्वरूप समझाकर चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर कहलाये ।1

धर्म-प्रभाव :

विहार करते हुए जब भगवान् द्वारिका के निकट पधारे तो राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ठ को भगवान् के पधारने की शुभ-सूचना दी। भगवान् श्री वासुपूज्य के पधारने की शुभ-सूचना की बधाई सुनाने के उपलक्ष में वासुदेव ने उसको साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रतिदान दिया। त्रिपृष्ठ के बाद ये इस समय के दूसरे वासुदेव होते हैं। भगवान् श्री वासुपूज्य का धर्म शासन भी सामान्य लोकजीवन से लेकर राजघराने तक व्यापक हो चला था ।2

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	६६
केवली	—	६०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	६१००
अवधिज्ञानी	—	५४००
चौदह पूर्वधारी	—	१२००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१००००
वादी	—	४७००
साधु	—	७२०००
साध्वी	—	१०००००
श्रावक	—	२१५०००
श्राविका	—	४३६०००

परिनिर्वाण :

अंतिम समय निकट जानकर प्रभु ६०० मुनियों के साथ चम्पानगरी पहुंच

१. जैन धर्म का मौ. इ. प्र. भा., पृ. १००
२. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा., पृ. १०१

गये और सभी ने अनशनव्रत प्रारंभ कर दिया। शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में पहुंचकर आपने समस्त कर्मराशि को क्षय कर दिया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन गये। उन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वह शुभ दिन आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी का था और शुभ योग उत्तराभाद्रपद नक्षत्र का था।[1]

भगवान् ने कुमारावस्था में अठारह लाख वर्ष, एक व्रत में चौपनलाख वर्ष व्यतीत किये। इस प्रकार कुल ७२ लाख वर्ष की आपकी आयु थी।[1]

⊙

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २००

१४. भगवान् श्री विमल (चिह्न-शूकर)

भगवान् श्री विमल तेरहवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

घातकी खण्ड के अन्तर्गत महापुरी नगरी नामक एक राज्य था। महाराज पद्मसेन वहां के यशस्वी नरेश हुए। वे अत्यन्त धर्मपरायण एवं प्रजावत्सल राजा थे। अन्तःप्रेरणा से वे विरक्त हो गये और सर्वगुप्त आचार्य से उन्होंने दीक्षा प्राप्त करली। प्रव्रजित होकर पद्मसेन ने जिन शासन की महत्वपूर्ण सेवा की। उन्होंने कठोर संयमाराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। आयुष्य के पूर्ण होने पर समाधिभाव से देहत्याग कर वे सहस्त्रार कल्प में ऋद्धिमान देव बने।१

जन्म एवं माता-पिता :

सहस्त्रार देवलोक से निकलकर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्र नक्षत्र में माता महारानी श्यामा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। इनकी जन्म-भूमि कपिलपुर थी और विमल यशधारी महाराज कृतवर्मा इनके पिता थे। माता ने गर्भ धारण के पश्चात् मंगलकारी चौदह महाशुभ स्वप्न देखे और उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद में चन्द्र का योग होने पर सुखपूर्वक सुवर्ण कान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया।

देवों ने सुमेरू पर्वत की अतिपांड कम्बल शिला पर प्रभु का जन्म महोत्सव मनाया। महाराज कृतवर्मा ने भी हृदय खोलकर पुत्रजन्म की खुशियां मनाई।२

१. चौवीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ६२
२. जैन धर्म का मौ. इ., प्रा. भा., पृ० १०२

नामकरण :

गर्भकाल में माता श्यामा तन मन से निर्मल बनी रही अतः महाराज कृतवर्मा ने मित्रों और परिवारजनों को एकत्र कर उक्त कारण बताते हुए बालक का नाम विमल रखने का सुझाव दिया। अतः बालक का नाम विमल रखा गया।1

गृहस्थावस्था :

इन्द्र के आदेश से देवांगनाओं ने कुमार विमल का लालनपालन किया। मधुर बाल्यावस्था की इतिश्री के साथ ही तेजयुक्त यौवन में जब युवराज ने प्रवेश किया तो वे अत्यन्त पराक्रमशील व्यक्तित्व के स्वामी बन गये। उनमें १००८ गुण विद्यमान थे। सांसारिक भोगों के प्रति अरुचि होते हुए भी माता-पिता के आदेश का निर्वाह करते हुए कुमार ने स्वीकृति दी और उनका विवाह योग्य राजकन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ।

पन्द्रह लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर पिता महाराज कृतवर्मा ने इन्हें राज्यभार सौंप दिया। राजा विमल ने शासक के रूप में भी निपुणता और सुयोग्यता का परिचय दिया। वे सुचारु रूप से शासन-व्यवस्था एवं प्रजा-पालन करते रहे। तीस लाख वर्षों तक उन्होंने राज्याधिकार का उपभोग किया था। उसके बाद उनके मन में विरक्ति जागृत हो उठी।2

दीक्षा एवं पारणा :

लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थना करने पर प्रभु वर्ष भर तक कल्पवृक्ष की भांति याचकों को दान देकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ सहस्राम्रवन में पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्र पद नक्षत्र में षष्ठ भक्त की तपस्या से सब पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षित हुए। धान्यकटपुर के महाराज जय के यहां प्रभु ने परमान्न से पारणा किया।3

१. त्रिषष्टि., ४।३।४८
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. ६३
३. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा. पृ. १०३

केवलज्ञान :

दो वर्ष तक छद्मस्थ काल में विचर कर भगवान् पुनः कपिलपुर के सहस्राम्रउद्यान में पधारे। वहां जम्बू वृक्ष के नीचे षष्ठ तप के साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन हो गये। उस समय ध्यान की परमोच्च अवस्था में पौष शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराभाद्र पद नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। देवों ने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। तदनंतर भगवान् ने देवनिर्मित समवसरण में विराजकर धर्मोपदेश दिया[1] और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

आपके संघ में मन्दर आदि छप्पन गणधरादि सहित निम्नलिखित परिवार था :–

गण एवं गणधर	—	५६
केवली	—	५५००
मनः पर्यवज्ञानी	—	५५००
अवधिज्ञानी	—	४८००
चौदहपूर्वधारी	—	११००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	९०००
वादी	—	३२००
साधु	—	६८०००
साध्वी	—	१००८००
श्रावक	—	२०८०००
श्राविका	—	४२४०००

परिनिर्वाण :

केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद दो कम पन्द्रह लाख वर्ष तक प्रभु पृथ्वी पर विहार करते हुए विचरते रहे। फिर निर्वाणकाल निकट आने पर सम्मेदशिखर

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. २०२

पर पधारे और छः हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन पूर्णकर आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में मोक्ष पधारे । भगवान् पन्द्रह लाख वर्ष कुमारावस्था में तीस लाख वर्ष तक राज्याधिपति और पन्द्रह लाख वर्ष का त्यागी जीवन व्यतीत कर, कुल साठ लाख वर्ष का पूर्ण आयुष्य भोगकर सिद्ध पद को प्राप्त हुए ।[1]

⊙

१. तीर्थंकर चरित्र, भाग-१ पृ. २५५-२५६

१५. भगवान् श्री अनन्त (चिन्ह- वाज)

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् श्री अनन्त हुए।

पूर्वभव :

घातकी खण्डद्वीप के प्राग्विदेह में ऐरावत नामक विजय में अरिष्टा नामक नगरी थी। नगरी धन-धान्य से समृद्ध थी। वहां के राजा पद्मरथ बड़े वीर और धार्मिक मनोवृत्ति वाले थे। एक बार नगर में "चित्तरक्ष" नामक शासन प्रभावक आचार्य पधारे। आचार्य के उपदेश से उसका मन वैराग्य-भाव से भर उठा। घर आकर उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपा और पुनः आचार्य की सेवा में उपस्थित हो दीक्षित हो गया। दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत उन्होंने आचार्य के समीप श्रुति का अध्ययन किया। आगमों का ज्ञान प्राप्त कर पद्मरथ मुनि कठोर तप करने लगे। तप संयम की उत्कृष्ट साधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। तप से अपने शरीर को क्षीण किया और आत्मा को उज्ज्वल बनाया। अपना आयुष्य पूर्ण कर समाधि-पूर्वक देह त्याग कर वे प्राणत देवलोक में उत्पन्न हुए और महर्द्धिक देव बने।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में पद्मरथ का जीव स्वर्ग से निकलकर अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन की रानी सुयशा की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता सुयशा ने उस रात को चौदह महाशुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्णकर माता सुयशा ने वैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र के योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव-दानव और मानवों ने जन्मोत्सव हर्षोल्लास के साथ मनाया।[2]

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. २०४
२. जैनधर्म का मौ. इ., प्र. भा., पृ. १०५

नामकरण :

महाराज सिंहसेन ने विचार किया, "जब बालक गर्भ में था तब सशक्त और विशाल सेनाओं ने अयोध्या पर आक्रमण किया था और उसे मैंने परास्त कर दिया था। अतः बालक का नाम अनन्त रखा जाय।"1 बस इसी आधार पर बालक का नाम अनन्त रखा गया।

गृहस्थावस्था :

सभी प्रकार के सुखद एवं स्नेहपूर्ण वातावरण में बालक अनन्त का पालन पोषण हुआ। बालक की रूप-माधुरी पर मुग्ध देवतागण भी मानवरूप धारण कर इनकी सेवा में रहे। युवा हो जाने पर आप अत्यन्त तेजस्वी व्यक्तित्व के स्वामी हो गये। माता-पिता के अत्यन्त आग्रह करने पर आपने योग्य एवं सुन्दर राज कन्याओं के साथ पाणिग्रहण भी किया और कुछ काल सुखी-दाम्पत्य जीवन भी व्यतीत किया। साढ़े सात लाख वर्ष की आयु प्राप्त हो जाने पर पिता द्वारा आपको राज्यारूढ़ किया गया। आपने पन्द्रह लाख वर्ष तक प्रजा-पालन का उत्तरदायित्व निभाया। जब आपकी आयु साढ़े बाईस लाख वर्ष की हो गई तब मन में वैराग्य भावना जागृत हुई।2

दीक्षा एवं पारणा :

लोकान्तिक देवों की प्रेरणा से प्रभु ने वर्षीदान से याचकों को इच्छानुकूल दान देकर वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके बेले की तपस्या थी। वर्द्धमानपुर के राजा विजय के यहां परमान्न से प्रभु ने पारणा किया।3

केवलज्ञान :

तीन वर्ष तक छद्मस्थ काल में विचरने के बाद भगवान् अयोध्या नगरी

१. त्रिषष्टि. ४।४।४७ एवं च. महा. पु. च. पृ. १२९
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ. ६७
३. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा., पृ. १०६

सहस्राम्रउद्यान में पधारे। वहां अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। वैशाख कृष्णा चतुदर्शी के दिन रेवती नक्षत्र में घनघाती कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और केवल दर्शनप्राप्त किया। देवों ने भगवान् का केवलज्ञान उत्सव मनाया। भगवान् ने देव निर्मित समवसरण में विराजकर धर्मोपदेश दिया।[1] धर्म-देशना देकर आपने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

आपका धर्म-परिवार निम्नानुसार था :—

गण एवं गणधर	—	५०
केवली	—	५०००
मनः पर्यवज्ञानी	—	५०००
अवधि ज्ञानी	—	४३००
चौदह पूर्वधारी	—	९००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	८०००
वादी	—	३२००
साधु	—	६६०००
साध्वी	—	६२०००
श्रावक	—	२०६०००
श्राविका	—	४१४०००

परिनिर्वाण :

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् सात लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन रेवती नक्षत्र में सम्मेद्शिखर पर्वत पर एक मास का अनशन ग्रहणकर सात मुनियों के साथ आपने मोक्ष प्राप्त किया। भगवान् श्री अनन्त ने कुमारावस्था में साढ़े सात लाख वर्ष, राज्यकाल में पन्द्रह लाख वर्ष एवं संयम पालन में सात लाख वर्ष व्यतीत किये। इस प्रकार भगवान् की कुल आयु तीस लाख वर्ष की थी।[2] ⊙

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २०५
२. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २०६

१६. भग ान् ी धर्म (चिह्न-वज्र)

भगवान् श्री धर्म पन्द्रहवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

घातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह में भरतविजय में भद्दिलपुर नामक नगर था। भद्दिलपुर के राजा का नाम दृढ़रथ था। राजा दृढ़रथ बड़ा प्रतापी और न्यायप्रिय था। उसने विमलवाहन मुनि के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या ग्रहण कर उन्होंने कठोर संयमाराधना करके तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अंतिम समय में अनशन द्वारा देहत्याग कर वैजयन्त विमान में महर्द्धिक देव बने।1

जन्म और माता-पिता :

वैजयन्त विमान में सुखोपभोग की अवधि समाप्त होने पर मुनि दृढ़रथ के जीव ने मानव योनि में देह धारण की। रत्नपुर के शूरवीर नरेश महाराजा भानु की महारानी सुव्रता की कुक्षि में मुनि दृढ़रथ का जीव वैशाख शुक्ला सप्तमी को पुष्य नक्षत्र के शुभ योग में उत्पन्न हुआ। गर्भधारण की रात्रि में ही रानी ने चौदह महान् मंगलकारी स्वप्न देखे जिनके शुभ प्रभाव को जानकर माता अत्यन्त हर्षविभोर हुई। यथासमय गर्भावधि समाप्त हुई और माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र की मंगलघड़ी में माता ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजपरिवार और राज्य की समस्त प्रजा ने, यहां तक कि देवताओं ने भी हर्षोल्लास के साथ जन्मोत्सव मनाया।2

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २०७

२. चौवीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ७०-७१

नामकरण :

नामकरण के दिन उपस्थित परिवार जन एवं मित्रवर्ग को महाराज भानु ने बताया कि जब बालक गर्भ में था तब महारानी सुव्रता को धर्म साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे तथा भावना भी सदैव धर्म प्रधान ही बनी रही। इसलिये बालक का नाम धर्म रखा जावे। अतः बालक का नाम धर्म रखा गया[1]

गृहस्थावस्था :

क्रीड़ा करते हुए सुख-वैभव के साथ आपका बाल्यकाल व्यतीत हुआ और आप युवा हुए। यौवनकाल तक आपका व्यक्तित्व अनेक गुणों से सम्पन्न हो गया। माता-पिता का आदेश स्वीकार करते हुए आपने विवाह किया और सुखी विवाहित जीवन भी व्यतीत किया।

जब आपकी आयु ढाई लाख वर्ष की हुई तो पिता महाराजा भानु ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। शासनारूढ़ होकर महाराजा धर्म ने न्यायपूर्वक और वात्सल्य भाव से प्रजा का पालन और रक्षण किया। पांच लाख वर्ष तक इस प्रकार राज्य करने पर उनके भोग-कर्म समाप्त हो गये। ऐसी स्थिति में उनके मन में विरक्ति के भाव अंकुरित होने लगे।[2]

दीक्षा एवं पारणा :

लोकान्तिक देवों के प्रार्थना करने पर वर्ष भर तक दान देकर नागदत्ता शिविका से प्रभु नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे और एक हजार राजाओं के साथ बेले की तपस्या से माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने दीक्षा ग्रहण की। सोमनसनगर में जाकर धर्मसिंह के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।[3]

१. त्रिषष्टि०, ४।५।४६ और च० महा० चरि०, पृ० १३३, आव० चूर्णि पूर्वभाग, पृ० ११
२. चौवीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ० ७१
३. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. भा. पृ. १०६

केवलज्ञान :

विभिन्न प्रकार के तप-नियमों के साथ परीषहों को सहते हुए प्रभु दो वर्ष तक छद्मस्थचर्या से विचरे, फिर दीक्षा-स्थान में पहुंचे और दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्ल ध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान् ने पुष्य नक्षत्र में ज्ञानावरणादि घाति कर्मों का सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली बनकर देवासुर-मनुजों की विशाल सभा में देशना देते हुए प्रभु ने कहा- "मानवों ! बाहरी शत्रुओं से लड़ना छोड़कर अपने अन्तर के विकारों से युद्ध करो। तन, धन और इन्द्रियों का दास बनकर आत्मगुण की हानि करने वाला नादान है। नाशवान् पदार्थों में प्रीतिकर अनन्तकाल से भटक रहे हो, अब भी अपने स्वरूप को समझो और भोगों से विरत हो सहजानन्द के भागी बनो।"

प्रभु का इस प्रकार का उपदेश सुनकर हजारों नर नारियों ने चरित्र-धर्म स्वीकार किया। चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

गणधर	—	४३ अरिष्ट आदि
केवली	—	४५००
मनः पर्यवज्ञानी	—	४५००
अवधि ज्ञानी	—	३६००
चौदह पूर्वधारी	—	९००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	७०००
वादी	—	२८००
साधु	—	६४०००
साध्वी	—	६२४००
श्रावक	—	२४४०००
श्राविका	—	४१३०००

परिनिर्वाण :

अपना निर्वाणकाल समीप जानकर भगवान् सम्मेदशिखर पर पधारे। आठ सौ मुनियों के साथ आपने एक मास का अनशन ग्रहण किया। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन पुष्य नक्षत्र के योग में भगवान् ने निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने ढाई लाख वर्ष कुमारावस्था, पांच लाख वर्ष राजा के रूप में एवं ढाई लाख वर्ष व्रत पालन में व्यतीत किये। इस प्रकार भगवान् की कुल आयु दस लाख वर्ष की थी।[1]

⊙

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २०६

१७. भगवान् श्री शान्ति (चिह्न-मृग)

भगवान् श्री शान्ति सोलहवें तीर्थंकर हुए। इनका जीवन बहुत प्रभावशाली और लोकोपकारी था।

पूर्वभव :—

पूर्व विदेह के मंगलावती-विजय में रत्नसंचया नामक नगरी थी। रत्न-संचया के महाराजा क्षेमंकर की रानी रत्नमाला से वज्रायुध का जन्म हुआ। बड़े होने पर लक्ष्मीवती देवी से इनका विवाह हुआ और उससे उत्पन्न सन्तान का नाम सहस्त्रायुध रखा गया।

किसी समय स्वर्ग में इन्द्र ने देवगण के समक्ष वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा की। देवगण द्वारा उसे स्वीकार करने के बाद भी चित्रचूल नामक देव ने कहा— "मैं परीक्षा किये बिना ऐसी बात स्वीकार नहीं करता।" --ऐसा कहकर वह क्षेमंकर राजा की सभा में आया और बोला-- "संसार में आत्मा, परलोक और पुण्य पाप आदि कुछ नहीं है। लोग अंधविश्वास में व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं।"

देव की बात का प्रतिवाद करते हुए वज्रायुध बोला-- "आयुष्मन् ! आपको जो दिव्य-पद और वैभव मिला है, अवधिज्ञान से देखने पर पता चलेगा कि पूर्वजन्म में यदि आपने विशिष्ट कर्त्तव्य नहीं किया होता तो यह दिव्य-भव आपको नहीं मिलता। पुण्य-पाप और परलोक नहीं होते तो आपको वर्तमान की ऋद्धि प्राप्त नहीं होती।"

वज्रायुध की बात से देव निरुत्तर हो गया और उसकी दृढ़ता से प्रसन्न होकर बोला-- "मैं तुम्हारी दृढ़ सम्यक्त्व निष्ठा से प्रसन्न हूं, अतः जो चाहो जो मांगो।" वज्रायुध ने निर्लिप्त भाव से कहा,-- "मैं तो इतना ही चाहता हूं कि तुम सम्यक्त्व का पालन करो।"

वज्रायुध की निस्वार्थवृत्ति से देव प्रसन्न हुआ और दिव्यअलंकार भेंट कर वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हुए चला गया।

किसी समय वज्रायुध के पूर्वभव के शत्रु एक देव ने उनको क्रीड़ा में देखकर ऊपर से पर्वत गिराया और उन्हें नागपाश में बांध लिया, परन्तु प्रबल पराक्रमी वज्रायुध ने वज्रऋषभ नाराच-संहनन के कारण एक ही मुष्टि-प्रहार से पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और नागपाश को भी तोड़ फेंका।

कालांतर में राजा क्षेमंकर ने वज्रायुध को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर भाव तीर्थंकर कहलाये। उधर भावी तीर्थंकर वज्रायुध ने आयुध शाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर छः खण्ड पृथ्वी को जीतकर सार्वभौम सम्राट का पद प्राप्त किया और सहस्त्रायुध को युवराज बनाया।

एक बार जब वज्रायुध राजसभा में बैठे हुए थे कि 'बचाओ। बचाओ।' की पुकार करता हुआ एक विद्याधर वहां आया और राजा के चरणों में गिर पड़ा।

शरणागत जानकर वज्रायुध ने उसे आश्वस्त किया। कुछ समय बाद ही हाथ में शस्त्र लिये एक विद्याधर दम्पती का आगमन हुआ और अपने अपराधी की मांग की।

महाराज वज्रायुध ने उनको पूर्वजन्म की बात सुनाकर उपशान्त किया और स्वयं भी पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। वे संयम साधना के पश्चात् पादोपगमन संथारा कर आयु का अंत होने पर ग्रैवेयक में देव हुए।

ग्रैवेयक से निकलकर वज्रायुध का जीव पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहां महारानी प्रियमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम मेघरथ रखा गया।

महाराज घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा से दृढ़रथ का जन्म हुआ। युवा होने पर सुमंदिरपुर के राजा की कन्या के साथ मेघरथ का विवाह हुआ। मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी बड़े दयालु और साहसी थे।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्यभार सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा बनने पर भी मेघरथ धर्म को नहीं भूला। एक दिन एक कबूतर आकर उसकी गोद में गिर गया और भय से कंपित हो अभय की याचना करने लगा।[1] राजा ने स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसे निर्भय रहने को आश्वस्त किया।

इतने में ही वहां एक बाज आया और राजा से कबूतर की मांग करने लगा। राजा ने शरणागत को लौटाने में असमर्थता व्यक्त की। बाज को यह भी कहा कि पेट किसी अन्य दूसरी वस्तु से भी भरा जा सकता है। किन्तु बाज ताजे मांस की बात पर अड़ा रहा। इस पर राजा मेघरथ ने कबूतर के स्थान पर अपने शरीर से कबूतर के वजन के बराबर मांस देने का प्रस्ताव किया जिसे बाज ने स्वीकार कर लिया। तराजू के एक पलड़े में कबूतर रखा गया और दूसरे पलड़े में राजा अपना मांस काट काट कर रखने लगा। इस दृश्य को देखकर सारी सभा स्तब्ध रह गयी। अंततः राजा स्वयं तराजू के पलड़े पर बैठ गया।

बाजरूप में देव राजा की इस अनुपम दयालुता और अपूर्वत्याग को देख-कर मुग्ध हो गया और दिव्य रूप से उपस्थित होकर मेघरथ के करूणाभाव की प्रशंसा करते हुए चला गया।

कुछ समय बाद मेघरथ ने पौषध शाला में पुनः अष्टम् तप किया। उस समय राजा ने जीव दया के उत्कृष्ट अध्यवसायों में महान् पुण्य संचय किया।

बाजरूपी देव ने इन्द्र द्वारा मेघरथ की करुण भावना की प्रशंसा पर विश्वास न करते हुए, मेघरथ की परीक्षा ली थी।[2]

ईशानेन्द्र ने स्वर्ग से नमन् कर इनकी प्रशंसा की किन्तु इन्द्राणियों को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने आकर मेघरथ को ध्यान से विचलित करने के

१. वासुदेव हिण्डी, द्वि. स्व. पृ. ३३७, जैनधर्म का मौ. इति., प्र. भा. पृ. ११५ से उद्धृत।

२. आचार्य शीलांक ने वज्रायुध द्वारा पौषध शाला में पा की रक्षार्थ अपना मांस काटकर देना स्वीकार करने के बाद देव के प्रसन्न होकर चले जाने का विवरण दिया है।
(च०म०पु०च०, पृ० १४६)

लिये विविध परीषह दिये परन्तु राजा का ध्यान चंचल नहीं हुआ । सूर्योदय होते होते देवियां अपनी हार मानती हुई राजा को नमस्कार कर चली गई ।

प्रातःकाल राजा मेघरथ ने दीक्षा लेने का संकल्प किया और अपने पुत्र को राज्य देकर महामुनि घनरथ के पास अनेक साथियों सहित दीक्षा ले ली । प्राणि-दया से प्रकृष्ट–पुण्य का संचय किया ही था फिर तपः आराधना से उन्होंने महती कर्म निर्जरा की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया ।

अन्त समय अनशन की आराधना कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए तथा वहां तेंतीस सागर की आयु प्राप्त की ।[1]

जन्म एवं माता-पिता :

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र के शुभ योग में मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से निकलकर हस्तिनापुर के महाराज विश्वसेन की महा–रानी अचिरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । माता ने गर्भधारण कर उसी रात में मंगलकारी चौदह महाशुभ स्वप्न भी देखे । उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण कर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में मध्य रात्रि के समय माता ने सुखपूर्वक कांचनवर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया । इनके जन्म से सम्पूर्ण लोक में उद्योत हुआ और नारकीय जीवों को भी क्षणभर के लिये विराम मिला । महाराज ने अनुपम आमोद-प्रमोद के साथ जन्म-महोत्सव मनाया ।[2]

नामकरण :

भगवान् शांति के जन्म से पूर्व कुरुदेश में भयानक महामारी फैली हुई थी । प्रतिदिन अनेक व्यक्ति रोग के शिकार हो रहे थे । अनेकानेक उपचार करने के उपरान्त भी महामारी शांत नहीं हो रही थी । भगवान् के गर्भ में आते ही महामारी का वेग कम हुआ । महारानी ने राजभवन के ऊंचे स्थल पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि डाली । जिधर भी महारानी की दृष्टि पड़ी महा-मारी का प्रकोप शांत हो गया और इस प्रकार देश को रोग से मुक्ति मिल

१. जैन धर्म का मौ०इ०, प्र०भा०, पृ० ११४ से ११६
२. जैन धर्म का मौ०इ०, प्र०भा०, पृ० ११६-११७

गई। इस प्रभाव को देखकर आपका नाम शांति रखा गया।१

गृहस्थावस्था एवं चक्रवर्ती-पद :

अनेक बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ करते हुए वे शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकसित होते रहे और युवा होने पर वे क्षत्रियोचित शौर्य, पराक्रम, साहस और शक्ति के मूर्तरूप दिखाई देने लगे। यद्यपि सांसारिक विषयों में कुमार की तनिक भी रुचि न थी, किन्तु भोग फलदायी कर्मों को निःशेष भी करना था और माता-पिता के आग्रह का वे अनादर भी नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने गुणवती रमणियों के साथ विवाह किया तथा सुखी दाम्पत्य जीवन का उप-भोग भी किया।

जब युवराज की आयु पच्चीस हजार वर्ष की हुई तो पिता महाराज विश्व-सेन ने उन्हें राज्यभार सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराजा के रूप में आपने न्यायशीलता, शासन-कौशल और प्रजावत्सलता का परिचय दिया। पराक्रमशीलता में तो आप और भी दो कदम आगे थे। आपके पराक्रम को देखते हुए किसी भी राजा का साहस हस्तिनापुर के साथ वैमनस्य रखने का न होता था।

आपके शासन-काल के कोई पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हुए होंगे कि आपके शस्त्रागार में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। यह इस बात का संकेत था कि अब नरेश को चक्रवर्ती बनने के प्रयास करने हैं। राजा ने चक्ररत्न उत्पत्ति उत्सव मनाया और चक्र शस्त्रागार से निकल पड़ा। खुले आकाश में जाकर वह पूर्व दिशा में स्थापित हो गया। सदलबल महाराज ने पूर्व दिशा की ओर प्रयाण किया। अपनी विजय यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले राजाओं को अपने अधीन करते हुए उन्होंने शेष तीनों दिशाओं में भी विजय पताका फहरा दी। फिर सिंधु को लक्ष्य मानकर उनकी सेना आगे बढ़ी। सिंधुदेवी ने भी अधीनता स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् उन्होंने वैताढ्यगिरि को अपने अधीन किया इस प्रकार छः खण्ड साधकर महाराज शांति चक्रवर्ती की समस्त ऋद्धियों सहित राजधानी हस्तिनापुर लौट आये। देवों और नरेशों ने सम्राट को चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त किया और विराट महोत्सव का आयोजन हुआ जो बारह वर्षों तक चलता रहा। प्रजा इस अवधि में कर और दण्ड से भी मुक्त रही। लगभग

१. च०महा०पुरि०च०, पृ० १५०

चौबीस हजार वर्षों तक सम्राट शांति चक्रवर्ती पद पर विभूषित रहे ।1

दीक्षा एवं पारणा :

भोग कर्मों के क्षीण होने पर सम्राट शांत ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की । लोकान्तिक देवों के प्रार्थना करने पर प्रभु ने एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान दिया और एक हजार राजाओं के साथ छट्ठ भक्त की तपस्या से ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भरणी नक्षत्र में दीक्षार्थ निष्क्रमण किया । देव-मानव-इन्द्र से घिरे हुए प्रभु सहस्राम्रवन में पहुंचे और वहां सिद्ध की साक्षी से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण की । मंदिरपुर के महाराज सुमित्र के यहां परमान्न से आपने प्रथम पारणा किया । पंच दिव्य बरसाकर देवों ने दान की महिमा प्रकट की ।2

केवलज्ञान :

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए संयम की उत्कृष्ट आराधना करते हुए प्रभु एक वर्ष के बाद हस्तिनापुर के सहस्राम्रउद्यान में पधारे और नन्दी वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये । ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था में पौष शुक्ला नवमी के दिन भरणी नक्षत्र में घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया । इन्द्रादि देवों ने भगवान् का केवलज्ञान उत्सव मनाया । देवों ने समवसरण की रचना की । समवसरण में विराज कर प्रभु ने देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना की ।3 चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव तीर्थंकर कहलाये ।

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	३६
केवली	—	४३००
मनः पर्यवज्ञानी	—	४०००
अवधि ज्ञानी	—	३०००

१. चौबीस तीर्थंकर, एक पर्य., पृ. ७७-७८
२. जैन धर्म का मौ०इ०, प्र०भा०, पृ० ११७,
३. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २३०

चौदह पूर्वधारी	—	८०००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	६०००
वादी	—	२४००
साधु	—	६२०००
साध्वी	—	६१६००
श्रावक	—	२६००००
श्राविका	—	३६३०००

परिनिर्वाण :-

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान् २४६६६ वर्ष तक विचरते रहे। निर्वाण काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और ६०० मुनियों के साथ एक मास के अनशन के पश्चात् ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयुकाल एक लाख वर्ष का था। इसमें से कुमारावस्था, मांडलिक राजा, चक्रवर्ती और व्रत पर्याय में पच्चीस पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत किये।[1]

१. तीर्थंकर चरित्र, भाग १ पृ. ३५७-५८

१८. भगवान् श्री कुन्थु (चिह्न-छाग)

भगवान् श्री कुन्थु सत्रहवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में आवर्त्त विजय में खड्गि नामक रमणीय नगर था। वहां के राजा का नाम सिंहावह था। वह अत्यन्त धर्मपरायण राजा था। एक बार संकर नामक ज्ञानी आचार्य का आगमन हुआ। राजा सिंहावह उनके दर्शन के लिये गया। आचार्य ने उसे धर्मोपदेश दिया। राजा धर्मपरायण तो था ही, प्रवचन पीयूष का पान कर वह विरक्त हो गया। अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर उसने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया और कठोर संयम का पालन करने लगा। उच्चकोटि की तपःसाधना करते हुए उसने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देह का त्याग कर सर्वार्थ सिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की आयुवाला देव बना।[1]

जन्म एवं माता पिता :

सर्वार्थ सिद्ध विमान से निकलकर सिंहावह का जीव हस्तिनापुर के महा-राज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी की कुक्षि में श्रावण कृष्णा नवमी को कृत्तिका नक्षत्र में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने महान् मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न का जन्म हुआ।[2]

नामकरण :

महाराज वसुसेन ने उपस्थित मित्रों एवं परिवार के सदस्यों को बताया

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० २३३
२. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र० भा०, पृ० ११६

कि जब बालक गर्भ में था तब रानी श्रीदेवी ने कुंथु नामक रत्नों की राशि देखी थी, इसलिये बालक का नाम कुन्थु रखा जाना चाहिये। अतः बालक का नाम कुन्थु रखा गया।[1]

गृहस्थावस्था एवं चक्रवर्ती पद :

युवराज कुन्थु अतिभव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी बलिष्ठ देह ३५ धनुष ऊंची और समस्त शुभ लक्षण युक्त थी। वे सौंदर्य की साकार प्रतिमा से थे। उपयुक्त आयु प्राप्ति पर पिता ने अनिद्य सुन्दरियों के साथ आपका विवाह सम्पन्न करवाया। आपका दाम्पत्य जीवन भी बहुत सुखी था। चौबीस हजार वर्ष की आयु होने पर पिता ने इन्हें राज्यभार सौंप दिया। शासक के रूप में उन्होंने स्वयं को सुयोग्य एवं पराक्रमी सिद्ध किया। पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त वैभव एवं राज्य को और अधिक अभिवर्धित एवं विकसित कर वे 'अतिजातपुत्र' की पात्रता के अधिकारी बने। लगभग पौने चौबीस हजार वर्ष का उनका शासनकाल व्यतीत हुआ था कि उनके शस्त्रागार में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई, जो अन्तरिक्ष में स्थापित हो गया। यह शुभ संकेत पाकर महाराज कुन्थु ने विजय अभियान की तैयारी की और इसके लिये प्रस्थान किया। अपनी शक्ति और साहस के बल पर आपने छह खण्डों को साधा और अनेक सीमा रक्षक देवों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन किया। छः सौ वर्ष तक निरन्तर युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए वे चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से सम्पन्न होकर अपनी राजधानी हस्तिनापुर लौटे। आपका चक्रवर्ती महोत्सव बारह वर्षों तक मनाया जाता रहा। इस अवधि में प्रजा कर मुक्त जीवन व्यतीत करती रही थी। सम्राट चौदह रत्नों और नवनिधान के स्वामी हो गये थे। तीर्थंकरों को चक्रवर्ती की गरिमा ऐश्वर्य के लिये प्राप्त नहीं होती – भोगावली कर्म के कारण होती है। अतः इस गौरव के साथ भी वे विरक्त बने रहते हैं। सम्राट कुन्थु भी इसके अपवाद नहीं थे।[1]

दीक्षा एवं पारणा :

भोगकर्म क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की।

१. च० महा० चरि०, पृ० १५२
१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ८२

उस पर लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की, "भगवन्! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये"।

एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्रवन में पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया। चक्रपुर नगर के राजा व्याघ्रसिंह के यहां प्रभु ने प्रथम पारणा किया।[1]

केवलज्ञान :

भगवान् सोलह वर्ष तक छद्मस्थ काल में विचरते रहे। विहार करते हुए आप पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में पधारे और तिलक वृक्ष के नीचे बेले का तप कर ध्यानावस्थित हो गये। शुक्ल ध्यान की मध्य अवस्था में चार घनघाती कर्मों का क्षय कर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका नक्षत्र के योग में केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। इन्द्रादि देवों ने भगवान् का केवलज्ञान उत्सव मनाया। समवसरण की रचना हुई और भगवान् ने धर्मोपदेश देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की।[2] चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार ;

गण एवं गणधर	—	३५ स्वयंभू आदि गणधर ३५ ही गण।
केवली	—	३२००
मनःपर्यवज्ञानी	—	३३४०
अवधिज्ञानी	—	२५००
चौदहपूर्वधारी	—	६७०

१. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र० मा०, पृ० १२०.

२. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. २३४-३५

वैक्रिय लब्धिधारी	—	५१००
वादी	—	२०००
साधु	—	६००००
साध्वी	—	६०६००
श्रावक	—	१७९०००
श्राविका	—	३८१०००

परिनिर्वाण :

केवलज्ञान प्राप्ति के उपरांत २३७३४ वर्ष तक प्रभु तीर्थंकर के रूप में विचरकर भव्य जीवों का उपकार करते रहे। निर्वाण का समय निकट जान कर प्रभु एक हजार मुनिवरों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरों के साथ वैशाख कृष्णा प्रतिपदाओं को कृत्तिका नक्षत्र के योग में एक मास के अनशन से मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयु ९५००० वर्ष का था।[1]

⊙

१. तीर्थंकर चरित्र, भाग–१, पृ०३६१

१६. भगवान् श्री अर (चिह्न-नन्दावर्त स्वस्तिक)

भगवान् कुन्थुनाथ के पश्चात् अवतरित होने वाले अठारहवें तीर्थंकर हुए भगवान् श्री अर।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में सुसीमा नामक रमणीय नगरी थी। वहां के धनपति वीर नामक राजा थे। उन्होंने संवर नामक आचार्य के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण करली। चारित्र ग्रहण कर तपः साधना के द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देह का त्याग कर नौवें ग्रैवेयक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।1

जन्म एवं माता-पिता :

ग्रैवेयक से निकलकर धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप में उत्पन्न हुआ और उसी रात को महारानी ने चौदह शुभ स्वप्नों को देखकर परम आनन्द प्राप्त किया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर मृगशिर शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में माता ने सुख-पूर्वक कनक-वर्णीय पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव और देवेन्द्रों ने जन्म महोत्सव मनाया। महाराज सुदर्शन ने भी नगर में आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म महोत्सव मनाया।2

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. २३७
२. जैन धर्म का मौ. इति. प्र. भा., पृ. १२३

नामकरण :

जब बालक गर्भकाल में था, तब माता महादेवी ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा था, इसलिये महाराज सुदर्शन ने बालक का नाम अर रखा।1

गृहस्थावस्था एवं चक्रवर्तीपद :

कुमार अर सुखी, आनन्दपूर्वक बालक जीवन व्यतीत कर जब युवक हुए तो लावण्यवती नृपकन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। इक्कीस हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उनका राज्याभिषेक हुआ। महाराज सुदर्शन समस्त राजकीय दायित्व अर को सौंपकर विरक्त हो गये। महाराज अर वंशपरम्परा के अनुकूल ही अतिपराक्रमी, शूरवीर और साहसी थे। अपने राजत्वकाल के इक्कीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आपकी आयुध शाला में चक्ररत्न का उदय हुआ। नरेश ने चक्ररत्न का पूजन किया और चक्र शस्त्रागार छोड़कर अंतरिक्ष में स्थिर हो गया। संकेतानुसार अर ने विजय अभियान के लिये सेना को सुसज्जित कर प्रयाण किया। इस शौर्य अभियान में महाराज अर सेना सहित एक योजन की यात्रा प्रतिदिन किया करते थे और इस बीच में स्थित राज्यों के राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार कराते चलते। आसिंधु विजय (पूर्व की दिशा में) कर चुकने के बाद वे दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख हुए। इस क्षेत्र को जीतकर पश्चिम की ओर बढ़े, उधर से विजयश्री प्राप्त कर वे उत्तर में आये। यहां के भी तीनों खण्डों पर विजयश्री प्राप्त करली। गंगा के समीप का भी सारा क्षेत्र अपने अधीनस्थ कर लिया। इस प्रकार समस्त भरतखण्ड में विजय-पताका फहराकर महाराज अर चार सौ वर्षों के इस अभियान की उपलब्धि 'चक्रवर्ती गौरव' के साथ राजधानी हस्तिनापुर लौटे थे। देव-मानवों के विशाल समुदाय ने आपका चक्रवर्ती नरेश के रूप में अभिषेक किया। इसके साथ जो समारोह प्रारम्भ हुए वे बारह वर्षों तक चलते रहे।2

दीक्षा एवं पारणा :

भोग-काल के उपरान्त जब उदय-कर्म का जोर कम हुआ तब प्रभु ने

१. चउ. महा. चरि., पृ. १५३
२. चौबीस तीर्थं. एक पर्य., पृ. ८६-८७

राज्य वैभव का त्याग कर संयम ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्द कुमार को राज्य सौंपकर आप वर्षीदान में प्रवृत्त हुए तथा याचकों को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओं के साथ बड़े समारोह के साथ दीक्षार्थ निकल पडे।

सहस्राम्रवन में आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में छट्ठ भक्त बेले की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ। राजपुर नगर में अपराजित राजा के यहां प्रभु ने परमान्न से पारणा ग्रहण किया।[1]

केवलज्ञान

तीन वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहने के बाद भगवान् हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में पधारे। वहां कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन शुक्ल ध्यान की उच्च अवस्था में आम्रवृक्ष के नीचे प्रभु को केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। इन्द्रादि देवों ने भगवान् का केवलज्ञान उत्सव मनाया। समवसरण की रचना हुई और उसमें विराजकर प्रभु ने धर्मोपदेश देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की।[2] चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर एवं भाव-अरिहंत कहलाये।[3]

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	कुंभजी आदि ३३ गणधर एवं ३३ ही गण।
केवली	—	२८००
मनःपर्यवज्ञानी	—	२५५१
अवधिज्ञानी	—	२६००

१. जैन धर्म का मौ. इ., प्र. मा., पृ. १२३
२. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. २३८
३. भाव अरिहंत १८ आत्मिक दोषों से मुक्त होते हैं।

चौदह पूर्वधारी	—	६१०
वैक्रिय लब्धिधारी	—	७३००
वादी	—	१६००
साधु	—	५००००
साध्वी	—	६००००
श्रावक	—	१८४०००
श्राविका	—	३७२०००

परिनिर्वाण :

भगवान् अर २०६६७ वर्ष तक केवलज्ञानी तीर्थंकररूप में विचरते रहे। निर्वाणकाल के निकट एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद् शिखर पर्वत पर पधारे और एक मास के अनशन के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में मोक्ष पधारे। भगवान् इक्कीस हजार वर्ष तक कुमारावस्था, इतने ही मांडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती और इतने ही वर्ष व्रत पर्याय में रहे। प्रभु का कुल आयुष्य ८४००० वर्ष का था।[1]

⊙

१. तीर्थंकर चरित्र, भाग १, पृ. ३७४

२०. भगवती श्री मल्ली (चिह्न–कलश)

भगवती श्री मल्ली का तीर्थंकरों की परम्परा में १९ वां स्थान है। तीर्थंकर प्राय: पुरुष रूप में ही अवतरित होते हैं और अपवाद स्वरूप स्त्रीरूप में उनका अवतीर्ण होना एक आश्चर्य माना जाता है । उन्नीसवें तीर्थंकर का स्त्रीरूप में जन्म लेना भी इस काल के दस आश्चर्यों में से एक है । दिगम्बर परम्परा इन्हें स्त्री स्वीकार नहीं करती ।

पूर्वभव :

जम्वूद्वीप के पश्चिम महाविदेह के सलिलावती विजय में वीतशोका नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी । इस सुन्दर राज्य के अधिपति किसी समय महाराजा महाबल थे । ये अत्यन्त योग्य, प्रतापी और धर्माचारी शासक थे । इनकी रानी का नाम कमलश्री था और उससे उन्हें बलभद्र नामक पुत्र की प्राप्ति हुई थी । वैसे महाराजा महाबल ने पांच सौ नृपकन्याओं के साथ अपना विवाह किया था किन्तु उनके मन में संसार के प्रति सहज अनासक्ति का भाव था, अत: बलभद्र के युवा हो जाने पर उसे राज्यभार सौंपकर स्वयं ने धर्म-सेवा और आत्म-कल्याण का निश्चय कर लिया । इनके सुख-दु:ख के साथी बाल्यकाल के छ: मित्र- १. धरण, २. पूरण, ३. वसु, ४. अचल, ५. वैश्रवण और ६. अभिचन्द्र थे । इन मित्रों ने भी महाबल का अनुसरण किया । सांसारिक संतापों से मुक्ति के अभिलाषी महाबल ने जब संयम व्रत ग्रहण करने का निश्चय किया तो इन मित्रों ने न केवल इस विचार का समर्थन किया, अपितु इस नवीन मार्ग पर राजा के साथी बने रहने का अपना विचार व्यक्त किया । अत: इन सातों ने व्रतधर्म मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा प्राप्त कर सातों मुनियों ने यह निश्चय किया कि हम सब एक ही प्रकार की और एक ही समान तपस्या करेंगे । कुछ काल तक तो उनका यह निश्चय क्रियान्वित होता रहा, किन्तु मुनि महाबल ने कालान्तर में यह सोचा कि इस प्रकार एक समान फल सभी

को मिलने के कारण मैं भी इनके समान ही हो जाऊंगा । फिर मेरा इनसे भिन्न विशिष्ट और उच्च महत्व नहीं रह जायगा । इस कारण गुप्त रीति से वे अतिरिक्त साधना एवं तप भी करने लगे । जब अन्य छह मुनि पारणा करते तो ये उस समय पुनः तपरत हो जाते । इस प्रकार छद्मरूप में तप करने के कारण स्त्रीवेद का बंध कर लिया । किन्तु साथ ही साथ बीस स्थानों की आराधना के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म भी अर्जित किया । सातों मुनियों ने चौरासी हजार वर्ष की दीर्घावधि तक संयम पर्याय का पालन किया । अन्ततः समाधिपूर्वक देह त्यागकर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में वत्तीस सागर आयु के अहमिन्द्र देव के रूप में उत्पन्न हुए ।

माया या कपट धर्म कर्म में अनुचित तत्व है । इसी माया का आश्रय महाबल ने लिया था और उन्होंने इसका प्रायाश्चित्त भी नहीं किया । अतः उनका स्त्रीवेद कर्म स्थगित नहीं हुआ । कपट भाव से किया गया जप-तप भी मिथ्या हो जाता है । उसका परिणाम शून्य ही रह जाता है ।1

जन्म एवं माता-पिता :

फाल्गुण शुक्ला चतुर्थी2 के दिन अश्विनी नक्षत्र में महाबल का जीव अनुत्तर विमान से चलकर मिथिला के महाराजा कुंभ की महारानी प्रभावती की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । महारानी प्रभावती ने उसी रात चौदह महाशुभ-सूचक स्वप्न देखे । तीन माह व्यतीत हो जाने पर प्रभावती को दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माता धन्य हैं, जो पंचवर्ण-पुष्पों की शैय्या में शयन करती और पाटल, चम्पा आदि फूलों के गुच्छे सूंघती हुई विचरती रहती हैं ।3

समीपस्थ व्यन्तर देवों ने माता के दोहद को पूर्ण किया । महारानी प्रभावती ने सुख-पूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर नवमास और साढ़े सात रात्रि के पश्चात् मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र के शुभ योग में उन्नीसवें तीर्थंकर को पुत्रीरूप से जन्म दिया ।४ राजा कुंभ इक्ष्वाकुवंश का था ।

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ०.८९-९०
२. ज्ञाता०, अ० ८।६५
३. ज्ञाता०, अ० ८।६५
४. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र०भा०, पृ० १२६

नामकरण :

गर्भकाल में माता को माला की शैय्या पर शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण पिता महाराजा कुंभ ने पुत्री का नाम मल्ली रखा।[1] विशिष्ट ज्ञान की धारिका होने के कारण इन्हें 'मल्ली भगवती' के नाम से भी पुकारा जाने लगा।

अलौकिक सौंदर्य की ख्याति[2]

कालान्तर में मल्ली कुमारी बाल्यभाव से मुक्त हुई। उनके रूप-लावण्य और गुणादि की उत्कृष्टता की ख्याति चारों ओर फैल गई। जब उन्होंने सौ से कुछ कम वर्ष की अवस्था प्राप्त की तो अवधि-ज्ञान से वे अपने पूर्वभव के उन छह मित्रों को जानने लगी जो विभिन्न राज्यों के राजा बन गये थे।

राजाओं के मोह-भाव को उपशम करने के लिये उन्होंने उपाय सोचा और आज्ञाकारी पुरुषों को बुलाकर एक मोहन घर बनाने की आज्ञा दी। उसके मध्य में मणिमय पीठिका पर अपने ही समान रूप लावण्यमयी सुवर्णमय पुत्तलिका बनवाई और भोजन के बाद एक एक पिंड उस पुतली में डालने की व्यवस्था की।

एक बार साकेतपुर में प्रतिबुद्ध राजा ने रानी पद्मावती के लिये नागघर के यात्रा-महोत्सव की घोषणा की, मालाकारों को अच्छी से अच्छी मालाएँ बनाने का आदेश दिया। जब राजा और रानी नागघर में आये और नाग प्रतिमा को वन्दन किया उस समय मालाकारों द्वारा प्रस्तुत एक श्रीदाम के दड़े को राजा ने देखा और विस्मित होकर अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से बोले—"देवानुप्रिय ! तुम राजकार्य से बहुत से ग्राम व नगरों में घूमते हो, श्रीदामगंड (पुष्पगुच्छ) कहीं अन्यत्र भी देखा है"

सुबुद्धि ने कहा— "महाराज। मैं आपका संदेश लेकर एक बार मिथिला गया था। वहां महाराज कुंभ की पुत्री मल्ली के वार्षिक महोत्सव पर जो दिव्य

१. ज्ञाता०, अ० ८।६६
२. जैन धर्म का मौ० इ०, प्र०भा., पृ. १२६ से १३१ के आधार पर।

श्रीदाम-गण्ड मैंने देखा उसके सामने देवी पद्मावती का यह श्रीदामगंड लक्षांश भी नहीं है।" उसने मल्ली के सौंदर्य का आश्चर्यजनक परिचय दिया। जिसे सुनकर महाराज प्रतिबुद्ध मल्लीकुमारी पर मुग्ध हो गये।

मल्ली के सौंदर्य की ख्याति अंग देश में भी फैली। चम्पानगरी के महाराज चन्द्रछाग ने उपासक अर्हन्नक से पूछा– "देवानुप्रिय ! तुम बहुत से ग्राम-नगरों में घूमते हो, कहीं कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो तो बताओ।"

अर्हन्नक ने कहा- "स्वामिन् ! हम चम्पा के ही निवासी हैं। यात्रा के सन्दर्भ में मैं एक बार मिथिला गया और वहां के महाराज कुंभ को मैंने दिव्य कुंडल युगल भेंट किया। उस समय कुंडल पहने उनकी पुत्री मल्लीकुमारी को देखा, उनका रूप अतीव आश्चर्यकारी है, वैसी सुन्दर कोई देवकन्या भी नहीं होगी।"

यह सुनकर महाराज चन्द्रछाग भी तत्काल सुनने मात्र से ही मल्ली के रूप-लावण्य पर विमुग्ध हो गये। इसी प्रकार मल्ली के अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति सावस्थी में कुणालाधिपति महाराज रूप्पी, काशी प्रदेश के महाराज शंख, कुरू के महाराज, पंचाल-पंजाब कमिलपुर के महाराज जितशत्रु आदि तक फैल गई।

विवाह प्रसंग और प्रतिबोध :

जब मल्ली के रूप लावण्य और तेजस्विता की चर्चा चारों ओर फैल गई तो अनेक देशों के बड़े-बड़े महिपाल मल्ली पर मुग्ध हो उसे अपनी बनाने के लिये पूर्ण प्रयास करने लगे और जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प पर भौंरे मंडराते हैं उसी प्रकार अनेकों राजाओं और महाराजाओं के राजदूत मल्ली को अपने राज्य की राज्य-महिषी बनाने के लिये मिथिलानगरी में मंडराने लगे।

महाराज कुंभ इससे कुछ अनिष्ट की आशंका से चिंतित रहने लगे। जब मल्ली के पूर्वभव के छह मित्रों ने भी, जो कि विभिन्न राज्यों के स्वामी थे, मल्ली के अनुपम सौन्दर्य की महिमा सुनी तो पूर्व-स्नेह से आकर्षित होकर उन्होंने भी मल्ली की याचना के लिये महाराज कुंभ के पास अपने अपने दूत भेजे।

महाराज कुंभ द्वारा मांग अस्वीकृत करने पर छहों भूमिपतियों ने अपनी सेना लेकर मिथिला पर आक्रमण कर दिया और शक्ति के बल पर मल्ली को प्राप्त करने का विचार करने लगे।

महाराज कुंभ इस आक्रमण का मुकाबला करने में अपने आपको असमर्थ समझकर चिंतित हो उठे, फिर भी किलाबंदी कर युद्ध की तैयारी में जुट गये।

चरण वंदन के लिये आई हुई मल्ली ने जब पिताश्री को चिंतित देखा और चिंता का कारण जाना तो विनयपूर्वक कहा- "महाराज! आप किंचित मात्र भी चिंतित न हो, मैं सब समस्या का ठीक ढंग से समाधान कर लूंगी। आप छहों राजाओं को दूत भेजकर अलग अलग रूप में आने का निमंत्रण भेज दीजिये।"

मल्ली की योग्यता, बुद्धिमत्ता और नीति-परायणता से प्रभावित एवं आश्वस्त होकर महाराज ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर छहों राजाओं को पृथक् पृथक् आने का निमंत्रण भिजवा दिया।

संदेश के अनुसार छहों राजा मिथिला पहुंचे। वहां उन्हें अलग अलग बने हुए प्रवेश द्वारों से प्रवेश कराकर पूर्व निर्मित मोहन घर में ठहराया गया। उनमें एक साकेतपुरी के राजा प्रतिबुद्ध, दूसरे चम्पा नरेश चन्द्रछाग, तीसरे श्रावस्ती नगरी के नरेश रुक्मी, चौथे वाराणसी के शंख, पांचवें हस्तिनापुर के अदीनशत्रु और छठे कम्पिलपुर नरेश जितशत्रु थे। ये सब अपने लिये निर्दिष्ट अलग अलग प्रकोष्ठों में पहुंचकर अशोक वाटिका स्थित सुवर्ण-पुतली, जो कि पूर्ण रूप से मल्ली की आकृति के अनुरूप बनवाई गई थी, देखने लगे। प्रकोष्ठों की रचना कुछ इस प्रकार से की गई थी कि एक दूसरे को देखे बिना वे छहों राजा मल्ली के रूप को देख सके।

मल्ली ने जब इन राजाओं को रूप-दर्शन में तन्मय देखा तो पुतली पर का ढक्कन हटा लिया। ढक्कन हटते ही चिर संचित अन्न की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई और सब नरेश नाक बंद कर इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगे।

उपयुक्त अवसर देखकर मल्ली ने राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा- "भूपतियों! आप किस पर मुग्ध हो रहे हो? इस पुतली में डाला गया एक ग्रास भी कुछ दिनों में सड़कर आप सबको असह्य पीड़ाकारक लग रहा है तब

मनुष्य के मल-मूत्र मय तन में कैसा भण्डार भरा होगा और वह कितना दुखदायी होगा ? यह शरीर कितना घृणित और निस्सार है ? क्षण भर आप इस पर विचार कीजिये। ज्ञानी पुरुष तन के रूप में रंग में न लुभाकर भीतर के आत्म देव से प्रीति करते हैं, वही प्रेम वास्तविक प्रेम है। आप लोगों को मेरे प्रति इतनी अधिक प्रीति क्यों है ? इसको भी सोचिये।"

"हम लोग पूर्व के तीसरे भव में परस्पर मित्र थे। आप सबने मेरे साथ दीक्षा ली थी, हम सबकी साधना भी एक साथ हुई थी परन्तु कर्म अवशेष रहने से हमको देवगति का भव करना पड़ा। मैंने कपट के कारण स्त्री शरीर प्राप्त किया है। अच्छा हो इस बार हम अपनी प्रबल साधना द्वारा रही सही कमी को भी दूर कर पूर्णता को प्राप्त करलें और फिर हम सबका अखण्ड साथ बना रहे।"

मल्ली भगवती के इन उद्बोधक वचनों से राजाओं को जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और इस ज्ञान से उन्होंने अपने अपने पूर्वभवों को जाना। फिर वे विनयपूर्वक बोले- "भगवति ! आपने हम सबकी आखें खोल दी हैं। अब आज्ञा दीजिये कि हम सब अपने अनादिकालीन बन्धनों को काटने में अग्रसर हो सकें।"

इस प्रकार हर्षित मन से छहों राजा दीक्षा लेने के पहले अपने अपने राज्य की व्यवस्था करने के लिये अपने अपने राज्य को लौट गये।

दीक्षा एवं पारणा :-

छहों राजाओं को प्रतिबोध देकर स्वयं मल्ली भगवती ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से अब भगवान् वर्षीदान में प्रवृत्त हुए और मुक्त हस्त से दान करने लगे। इसके सम्पन्न हो जाने पर इन्द्रादि देवों ने प्रभु का दीक्षाभिषेक किया और उसके बाद भगवान् ने गृह त्याग कर दिया। निष्क्रमण कर वे जयन्त नामक शिविका में आरूढ़ हो सहस्राम्रवन पधारे। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को भगवान् मल्ली ने तीन सौ स्त्रियों और एक हजार पुरुषों के साथ संयम स्वीकार कर लिया। दीक्षा ग्रहण

करने के तत्काल बाद उन्हें मनः पर्यवज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। प्रभु का प्रथम पारणा मिथिला के राजा विश्वसेन के यहां सम्पन्न हुआ।[1]

ज्ञातासूत्र में संयम ग्रहण करने वाले आठ अन्य ज्ञातकुमारों के नाम उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं :-

१, नंद	२. नंदमित्र
३. सुमित्र	४. बलमित्र
५. भानुमित्र	६. अमरपति
७. अमरसेन	८. महासेन

संभव है पूर्वभव के छह मित्र राजाओं से भिन्न ये कोई अन्य राजा या राजकुमार हों। देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने बड़े ठाट से दीक्षा का महोत्सव सम्पन्न किया।[2]

केवलज्ञान :

मनः पर्यवज्ञान प्राप्ति के उपरांत भगवती मल्ली उसी सहस्राम्रवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गई। विशिष्ट उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि भगवान् दीक्षा के दिन ही केवली भी बन गये थे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा अपूर्वकरण में उन्होंने प्रवेश कर लिया, जिसमें ज्ञानावरण आदि का क्षय कर देने की क्षमता होती है। अत्यन्त त्वरा के साथ आठवें, नौवें, दसवें और बारहवें गुण स्थान को पार कर उन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।[3] आपका प्रथम पारणा केवलज्ञान में ही सम्पन्न हुआ था। केवलज्ञान प्राप्ति की तिथि दीक्षा तिथि मृगशिर शुक्ला एकादशी ही है।

केवली भगवती मल्ली के समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने अपनी प्रथम धर्म देशना में अनेक नर-नारियों को प्रेरित कर आत्म-कल्याण के मार्ग

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य॰, पृ॰ ९४
२. ज्ञाता सूत्र अ॰आठ, जैन धर्म का मौ॰इ॰, प्र॰भा॰ पृ १३१ से उद्धृत
३. सूत्र अ॰आठ, जैन धर्म का मौ॰इ॰, प्र॰भा॰, पृ॰ १३१ से उद्धृत।

पर आरूढ़ किया। देशना से प्रभावित होकर भगवान् के माता-पिता महाराज कुंभ और महारानी प्रभावती ने श्रावक धर्म स्वीकार किया और विवाह के इच्छुक छह राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ग्रहण की। आपने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर की गरिमा प्राप्त की।2 आपके समवसरण में साध्वियों का अग्रस्थान माना गया है, क्योंकि उन्हें आभ्यंतर परिषद् में गिना गया है।3

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	२८ गण एवं २८ गणधर	
केवली	—	३२००	
मनः पर्यवज्ञानी	—	८००	
अवधिज्ञानी	—	२०००	
चौदह पूर्वधारी	—	६१४	
वैक्रिय लब्धिधारी	—	३५००	
वादी	—	१४००	
साधु	—	४००००	
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—	२०००	
साध्वी	—	५५०००	बन्धुमति आदि
श्रावक	—	१८४०००	
श्राविका	—	३६५०००	

परिनिर्वाण :-

भगवती मल्ली ने १०० वर्ष गृहवास में रहकर, सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष केवली का पालन कर ग्रीष्मकाल के प्रथम मास चैत्र शुक्ला चतुर्थी को भरणी नक्षत्र में अर्द्ध रात्रि के समय पांच सौ आर्यिकाओं और पांच सौ बाह्य परिषद् के साधुओं सहित संथारा पूर्ण कर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गयी।4

⊙

१. ज्ञाता सूत्र श्रु. व अ ८ सू० ८४
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० ६४
३. जैन धर्म का मौ.इ., प्र.भा., पृ. १३२
४. वही, पृ. १३३

एक हजार राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की। राजगृही में राजा ब्रह्मदत्त के यहां प्रभु का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच दिव्य बरसाकर दान की महिमा प्रकट की।[1]

केवलज्ञान :

दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उपलब्ध हुआ। ग्यारह मास तक प्रभु छद्मस्थ रहे। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को श्रवण नक्षत्र में राजगृही के नीलगुहा उद्यान में चम्पक वृक्ष के नीचे, शुक्ल ध्यान की उन्नत धारा में चारों घनघाती कर्मों को क्षय करके प्रभु ने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया। देवों ने समवसरण की रचना की। प्रभु ने धर्म देशना दी।[2] धर्म-देशना देकर प्रभु ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और वे भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	१८ गण एवं १८ गणधर
केवली	—	१८००
मनःपर्यवज्ञानी	—	१५००
अवधिज्ञानी	—	१८००
चौदह पूर्वधारी	—	५००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	२०००
वादी	—	१२००
साधु	—	३००००
साध्वी	—	५००००
श्रावक	—	१७२०००
श्राविका	—	३५००००

१. जैन धर्म का मौ. इति., प्र. भा., पृ. १३४-३५
२. तीर्थंकर चरित्र, भाग २, पृ. ६

परिनिर्वाण :

अपने निर्वाणकाल के समीप भगवान् सम्मेद्‌शिखर पर पधारे। वहां एक हजार मुनियों के साथ अनशन ग्रहण किया। एक मास के अन्त में ज्येष्ठ कृष्णा नवमीं के दिन श्रावण नक्षत्र में अवशेष कर्मों का क्षय कर भगवान् मोक्ष पधारे।

भगवान् ने कुमारावस्था में साढ़े सात हजार वर्ष, राज्य-पद पर पन्द्रह हजार वर्ष एवं चारित्र पर्याय में साढ़े सात हजार वर्ष व्यतीत किये। इस प्रकार भगवान् की कुल आयु तीस हजार वर्ष की थी।[1]

विशेष :

जैन इतिहास और पुराणों के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम राम जिनका अपर नाम पद्मबलदेव है और वासुदेव लक्ष्मण भी भगवान् मुनिसुव्रत के शासनकाल में हुए। राम ने उत्कृष्ट साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त की और सीता का जीव बारहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ। इनका पवित्र चरित्र पउम-चरियं एवं पद्मपुराण आदि ग्रंथों में विस्तार से उपलब्ध होता है।[2]

⊙

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ. ३२६
२. जैन धर्म का मौ. इति., प्र. भा., पृ. १३५

२२. भगवान् श्री नमि (चिह्न-कमल)

भगवान् श्री नमि इक्कीसवें तीर्थंकर हुए। आपका अवतरण बीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री मुनिसुव्रत के लगभग छः लाख वर्ष पश्चात् हुआ।

पूर्वभव :

जम्बूद्वीप के पश्चिम में महाविदेह के भरत विजय में कौशाम्बी नामक नगरी थी। वहां के राजा का नाम सिद्धार्थ था। महाराज सिद्धार्थ ने सुदर्शन मुनि से उपदेश सुनकर दीक्षा ग्रहण की और कठोर तप कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देहत्याग कर अपराजित नामक अनुत्तर विमान में महर्द्धिक देव बने।[1]

जन्म एवं माता पिता :

सिद्धार्थ राजा का जीव स्वर्ग से निकलकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र में मिथिला नगरी के महाराज विजय की पत्नी महारानी वप्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। उसी रात माता ने मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। योग्य आहार-विहार और आचार से महारानी ने गर्भ का पालन किया।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माता वप्रा देवी ने श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में कनकवर्णीय पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया। नरेन्द्र और सुरेन्द्रों ने मंगल महोत्सव मनाया।[2]

१. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ३२७
२. जैन धर्म का मौ० इति०, : प्र० भा०, पृ० १३६

नामकरण :

जब भगवान् गर्भ में थे, तब शत्रुओं ने मिथिला को घेर लिया था। उस समय माता वप्रादेवी ने राजमहल के ऊंचे स्थान पर जाकर चारों ओर उन शत्रुओं को सौम्य दृष्टि से देखा तो उन समस्त शत्रुओं का हृदय परिवर्तित हो गया और वे नम्र होकर झुक गए। इसलिये बालक का नाम नमि रखा गया।1

गृहस्थावस्था :

यथासमय यौवन के क्षेत्र में आपने पदार्पण किया। महाराज विजयसेन ने राजकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह कराया और आप गृहस्थ जीवनयापन करने लगे। महाराज विजयसेन ने विरक्त होकर आपको राज्य का भार सौंप दिया और संयमव्रत स्वीकार कर लिया।

महाराजा के रूप में आप अतियोग्य और कौशल सम्पन्न सिद्ध हुए। अपनी प्रजा का पालन आप स्नेह के साथ करते थे। उनका सुखद शासनकाल पांच हजार वर्ष तक चलता रहा। इतना सब होने पर भी वे पारिवारिक जीवन और शासक जीवन में सर्वथा निर्लिप्त बने रहे। अब उन्होंने संयम ग्रहण की इच्छा व्यक्त की।2

दीक्षा एवं पारणा :

मर्यादा के अनुसार लोकांतिक देवों की प्रार्थना से एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नमि ने राजकुमार सुप्रभ को राज्यभार सौंप दिया और स्वयं एक हजार राजकुमारों के साथ सहस्राम्रवन की ओर दीक्षार्थ निकल पड़े। वहां पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से विधिवत् सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आषाढ़ कृष्णा नवमी को उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। वीरपुर के महाराज दत्त के यहां परमान्न से प्रभु का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ।3

१. च० महा० च०, पृ० १७७ एवं आव. चू०, पृ० ११ उत्तरार्ध
२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १०१
३. जैन धर्म का मौ० इति०, प्र० भा०, पृ० १३७

केवलज्ञान :

विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर चोरसली वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। वहां मृगशिर कृष्णा एकादशी को शुक्लध्यान की प्रचण्ड अग्नि में सम्पूर्ण घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान – केवलदर्शन प्राप्त कर भाव-अरिहंत कहलाये। केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर बन गये।[1]

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	१७ गण और १७ गणधर
केवली	—	१६००
मनःपर्यवज्ञानी	—	१२०७
अवधिज्ञानी	—	१६००
चौदह पूर्वधारी	—	४५०
वैक्रियलब्धिधारी	—	५०००
वादी	—	१०००
साधु	—	२००००
साध्वी	—	४१०००
श्रावक	—	१७००००
श्राविका	—	३४८०००

परिनिर्वाण :

मोक्षकाल निकट आने पर भगवान् सम्मेदशिखर पर पधारे और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अनशन के बाद वैशाख कृष्णा दशमी को अश्विनी नक्षत्र के योग में प्रभु समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष पधारे।

प्रभु दो हजार चार सौ निन्नाणु वर्ष और तीन मास तक केवली पर्याय में विचरकर भव्यजीवों का उद्धार करते रहे।[2]

१. जैन धर्म का मौ. इति., प्र. भा., पृ. १३७
२. तीर्थंकर चरित्र भाग–२, प. २४७

२३. भगवान् श्री अरिष्टनेमि (चिह्न-शंख)

भगवान नमि के उपरांत भगवान श्री अरिष्टनेमि या नेमि बाईसवें तीर्थंकर हुए ।

पूर्वभव :

भगवान अरिष्टनेमि इस अवसर्पिणीकाल के बाईसवें तीर्थंकर हैं । श्वेताम्बर ग्रंथों में भगवान के नौ भवों का तथा दिगम्बर ग्रंथों में पांच भवों का उल्लेख मिलता है । भगवान अरिष्टनेमी का जीव निम्नांकित भवों में होता हुआ भगवान् अरिष्टनेमि के रूप में उत्पन्न हुआ-

(१) धनकुमार साथ में धनवती
(२) सौधर्म देवलोक में
(३) चित्रगति साथ में रत्नवती
(४) माहेन्द्रकल्प में
(५) अपराजित साथ में प्रीतिमती
(६) आरण्य (७) शंख (८) अपराजित
(९) अरिष्टनेमि

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया । भारतवर्ष में हस्तिनापुर के राजा श्रीषेण की पत्नी महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः बालक का नाम शंखकुमार रखा गया ।[1]

शंख के भव में आपने अनेक उल्लेखनीय कार्यों का सम्पादन किया, जिसका विस्तृत विवरण त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में मिलता है । एक दिन

१. त्रिषष्टि., ८-१-४५२ - ४५७

हस्तिनापुर में केवल-ज्ञानी भगवान् श्री श्रीषेण का आगमन हुआ। शंखकुमार ने उनसे यशोमती पर अपना सहज अनुराग का कारण जानना चाहा। प्रत्युत्तर में केवली भगवान् श्री श्रीषेण ने बताया कि यह यशोमती धनकुमार के भव की धनवती नामक तुम्हारी पत्नी है। केवली भगवान् से ही विदित हुआ कि तुम बाईसवें तीर्थंकर बनोगे और यशोमती उस समय राजीमती के रूप में जन्म लेगी। उससे तुम्हारा विवाह न होने पर भी वह तुम पर ही अनुराग रखेगी। अंत में वह तुम्हारे सान्निध्य में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करेगी। तुम्हारे भाई और मंत्री तुम्हारे गणधर बनेंगे और अंत में सिद्धि प्राप्त करेंगे।1

महाराज शंख ने विरक्त होकर अपने पुत्र पुण्डरीक को राज्य भार सौंपा और दोनों छोटे भाइयों, मंत्री तथा पत्नी यशोमती के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।2 दीक्षा ग्रहण करने के बाद आपने आगम साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा फिर उत्कृष्ट तप की साधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।3 अंत में पादोपगमन संथारा कर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण की।4

जन्म एवं माता-पिता :

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन चित्रानक्षत्र के योग से शौर्यपुर के महाराजा समुद्रविजय की पत्नी महारानी शिवादेवी की कुक्षि में अरिष्टनेमि के रूप में उत्पन्न हुआ।5 यशोमती का जीव राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती हुआ।6 जिस रात आप माता के गर्भ में आये, उसी रात गर्भ के प्रभाव से माता शिवादेवी ने गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, पद्मसरोवर, क्षीरसागर, विमान, रत्नपुञ्ज और निर्धूम अग्नि, ये चौदह महामंगलकारी शुभ स्वप्न देखे।7

१. त्रिषष्टि०, ८- १- ५२६-५३१
२. वही०, ८ - १ - ५३२
३. वही०, ८ - १-५३३
४. वही०,८ - १ - ५८३४
५. कल्पसूत्र, १६२, पृ० २२७
६. त्रिषष्टि., ८ - ६
७. कल्पसूत्र, १६२

हस्तिनापुर में केवल-ज्ञानी भगवान् श्री श्रीषेण का आगमन हुआ। शंखकुमार ने उनसे यशोमती पर अपना सहज अनुराग का कारण जानना चाहा। प्रत्युत्तर में केवली भगवान् श्री श्रीषेण ने बताया कि यह यशोमती धनकुमार के भव की धनवती नामक तुम्हारी पत्नी है। केवली भगवान् से ही विदित हुआ कि तुम बाईसवें तीर्थंकर बनोगे और यशोमती उस समय राजीमती के रूप में जन्म लेगी। उससे तुम्हारा विवाह न होने पर भी वह तुम पर ही अनुराग रखेगी। अंत में वह तुम्हारे सान्निध्य में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करेगी। तुम्हारे भाई और मंत्री तुम्हारे गणधर बनेंगे और अंत में सिद्धि प्राप्त करेंगे।[1]

महाराज शंख ने विरक्त होकर अपने पुत्र पुण्डरीक को राज्य भार सौंपा और दोनों छोटे भाइयों, मंत्री तथा पत्नी यशोमती के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।[2] दीक्षा ग्रहण करने के बाद आपने आगम साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा फिर उत्कृष्ट तप की साधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।[3] अंत में पादोपगमन संथारा कर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण की।[4]

जन्म एवं माता-पिता :

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोग-कर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन चित्रानक्षत्र के योग से शौर्यपुर के महा-राजा समुद्रविजय की पत्नी महारानी शिवादेवी की कुक्षि में अरिष्टनेमि के रूप में उत्पन्न हुआ।[5] यशोमती का जीव राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती हुआ।[6] जिस रात आप माता के गर्भ में आये, उसी रात गर्भ के प्रभाव से माता शिवादेवी ने गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, पद्मसरोवर, क्षीरसागर, विमान, रत्नपुञ्ज और निर्धूम अग्नि, ये चौदह महामंगलकारी शुभ स्वप्न देखे।[7]

१. त्रिषष्टि०, ८- १- ५२६-५३१
२. वही०, ८ - १ - ५३२
३. वही०, ८ - १-५३३
४. वही०,८ - १ - ५८३४
५. कल्पसूत्र, १६२, पृ० २२७
६. त्रिषष्टि., ८ - ६
७. कल्पसूत्र, १६२

गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में माता शिवादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया ।1

नामकरण :

भगवान् के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, जब भगवान् गर्भ में थे, तब माता ने अरिष्ट रत्नमयी नेमि (चक्रधारा) स्वप्न में देखी थी, अतः भगवान् का नाम अरिष्टनेमि रखा गया ।2

एक अन्य मतानुसार, "बालक के गर्भकाल में रहते महाराज समुद्रविजय आदि सब प्रकार के अरिष्टों से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र नेमि का दर्शन किया, इसलिये बालक का नाम अरिष्टनेमि रखा गया ।3"

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् के नामकरण के संबंध में निम्नानुसार कल्पनाएँ व्यक्त की हैं—

स्वप्न में माता ने रत्नमयी श्रेष्ठ रिष्टनेमि देखी थी अतः उनका नाम रिष्टनेमि रखा।

भगवान् के जन्म लेने से जो अरि थे वे सभी बैर भाव से रहित हो गये अथवा भगवान् शत्रुओं के लिये भी इष्ट हैं, उन्हें श्रेष्ठफल प्रदान करने वाले हैं अतः उनका नाम अरिष्टनेमि रखा गया4

विद्वानों की कल्पनाएँ कुछ भी रही हों, यह सत्य है कि बाइसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि हुए।

वंश, गौत्र एवं कुल :

भगवान् अरिष्टनेमि का वंश हरिवंश माना गया है।5 हरिवंश की

१. वही., १६३
२. त्रिषष्टि., ८।५।१६८
३. आव. चू. उत्त., पृ० ११
४. भव भावना., गा. २३४३ से २३४५
५. चउ. महा. चरि., पृ. १८०

गणना श्रेष्ठवंशों में की जाती है, क्योंकि इस वंश में अनेक तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव एवं बलदेव जन्म लेते रहे हैं।1

भगवान् अरिष्टनेमि का गोत्र गौतम और कुल वृष्णि था।2 अंधक और वृष्णि दो भाई थे। अरिष्टनेमि के दादा वृष्णि कुल प्रवर्त्तक थे। अरिष्टनेमि अपने वृष्णि कुल के प्रधान पुरुष होने से उन्हें 'वृष्णि-पुंगव' कहा गया है।3 इस प्रकार भगवान् हरिवंशीय, गौतम गोत्रीय, अंधक वृष्णि कुल के थे।

अनुपम सौंदर्य एवं पराक्रम :

भगवान् अरिष्टनेमि एक हजार आठ शुभ लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। श्यामवर्णीय शरीर कान्तियुक्त था। उनकी मुखाकृति मनोहर चित्ताकर्षक एवं तेजपूर्ण थी।४ उनका शारीरिक संहनन वज्रसा दृढ़ और संस्थान आकार समचतुरस्त्र था। उदर मछली जैसा था, उनका बल देव और देवपतियों से भी बढ़कर था।5

शारीरिक सौन्दर्य की भांति ही उनका आन्तरिक सौन्दर्य भी कम आकर्षक नहीं था। उनका हृदय अत्यन्त उदार था। राजकुमार होने पर भी राजकीय वैभव का तनिकमात्र भी अभिमान उन्हें स्पर्श न कर सका था। उनकी वीरता-धीरता योग्यता एवं ज्ञान-गरिमा को निहारकर सभी लोग चकित थे। वे अपने अनुपम विवेक, विचार, शिष्टता एवं गाम्भीर्य प्रभृति हजारों गुणों के कारण जन-जन के अत्यधिक प्रिय हो चुके थे।६

भगवान् श्री अरिष्टनेमि के पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिये केवल एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। जब भगवान् अरिष्टनेमि युवा हुए तब श्रीकृष्ण तीन खण्ड के अधि-

१. कल्पसूत्र १७, पृ. ५६
२. उत्तराध्ययन, अ. २२ गा. १३ एवं ४४
३. ध्ययन, बृहद्वृत्ति पत्र ४६०
४. ज्ञाताधर्म कथा, अ. ५।५८ पृ. ६६ एवं उत्तरा., २२।५
५. उत्तर , २२।६
६. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ० ८०

पति बन चुके थे। एक दिन अरिष्टनेमि अपने साथियों सहित श्रीकृष्ण की आयुधशाला में गये। आयुध शाला के रक्षकों ने श्रीकृष्ण के शस्त्रों का महत्व बताया और यह भी कहा कि उन्हें कोई दूसरा नहीं उठा सकता है क्योंकि किसी में इतनी शक्ति ही नहीं है। इस पर अरिष्टनेमि ने उनके सुदर्शन चक्र को अंगुली पर रखकर घुमा दिया, उनके शारंग धनुष को कमल-नाल की भांति मोड़ दिया, उनकी कौमुदी गदा सहज ही उठाकर कंधे पर रख ली एवं उनके पाञ्चजन्य शंख को उठाकर फूंका। दिव्य-शंख ध्वनि से द्वारिकापुरी गूंज उठी। उस प्रचण्ड ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा विस्मय हुआ और वे सीधे आयुधशाला में पहुंचे। वे यह जानकर आश्चर्यचकित हो गये कि शंख अरिष्टनेमि ने बजाया था। श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि के पराक्रम की जानकारी मिल गई।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि के बाहुबल की परीक्षा लेने के दृष्टिकोण से कहा—"व्यायामशाला चलो। वहां चलकर बाहुबल की परीक्षा करेंगे क्योंकि मेरे पाञ्चजन्य शंख को फूंकने की शक्ति मेरे अतिरिक्त किसी में भी नहीं है।" इस पर दोनों व्यायामशाला पहुंचे। अनेक दर्शक भी एकत्र हो गये। श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा फैलाई और कहा – 'इसे नीचे झुकाओ'। अरिष्टनेमि ने क्षणमात्र में श्रीकृष्ण की भुजा को झुका दिया। उपस्थित जनसमुदाय मुक्तकंठ से अरिष्टनेमि की प्रशंसा करने लगा। अब अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा फैलाई। श्रीकृष्ण उसे झुकाने लगे, उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग किया, यहां तक कि वे उससे झूल गये किन्तु अरिष्टनेमि की भुजा को तनिक भी झुका नहीं पाये। इस पर श्रीकृष्ण ने भी अरिष्टनेमि के अतुलित पराक्रम की प्रशंसा की।[1]

प्रस्तुत घटना अरिष्टनेमि के धैर्य, शौर्य और प्रबल पराक्रम को प्रकट करती है।

विवाह-प्रसंग :

माता-पिता एवं अन्य स्वजनों ने अरिष्टनेमि से विवाह कर लेने का कई बार आग्रह किया था किन्तु अरिष्टनेमि ने अपनी स्वीकृति नहीं दी थी।

१ विस्तृत विवरण के लिए देखें त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, ८।६.

गणना श्रेष्ठवंशों में की जाती है, क्योंकि इस वंश में अनेक तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव एवं वलदेव जन्म लेते रहे हैं।[1]

भगवान् अरिष्टनेमि का गोत्र गौतम और कुल वृष्णि था।[2] अंधक और वृष्णि दो भाई थे। अरिष्टनेमि के दादा वृष्णि कुल प्रवर्त्तक थे। अरिष्टनेमि अपने वृष्णि कुल के प्रधान पुरूष होने से उन्हें 'वृष्णि-पुंगव' कहा गया है।[3] इस प्रकार भगवान् हरिवंशीय, गौतम गौत्रीय, अंधक वृष्णि कुल के थे।

अनुपम सौंदर्य एवं पराक्रम :

भगवान् अरिष्टनेमि एक हजार आठ शुभ लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। श्यामवर्णीय शरीर कान्तियुक्त था। उनकी मुखाकृति मनोहर चित्ताकर्षक एवं तेजपूर्ण थी।[4] उनका शारीरिक संहनन वज्रसा दृढ़ और संस्थान आकार समचतुरस्त्र था। उदर मछली जैसा था, उनका बल देव और देवपतियों से भी बढ़कर था।[5]

शारीरिक सौन्दर्य की भांति ही उनका आन्तरिक सौन्दर्य भी कम आकर्षक नहीं था। उनका हृदय अत्यन्त उदार था। राजकुमार होने पर भी राजकीय वैभव का तनिकमात्र भी अभिमान उन्हें स्पर्श न कर सका था। उनकी वीरता-धीरता योग्यता एवं ज्ञान-गरिमा को निहारकर सभी लोग चकित थे। वे अपने अनुपम विवेक, विचार, शिष्टता एवं गाम्भीर्य प्रभृति हजारों गुणों के कारण जन-जन के अत्यधिक प्रिय हो चुके थे।[6]

भगवान् श्री अरिष्टनेमि के पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिये केवल एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। जब भगवान् अरिष्टनेमि युवा हुए तब श्रीकृष्ण तीन खण्ड के अधि-

१. कल्पसूत्र १७, पृ. ५६
२. उत्तराध्ययन, अ. २२ गा. १३ एवं ४४
३. उत्तराध्ययन, वृहद्वृत्ति पत्र ४६०
४. ज्ञाताधर्म कथा, अ. ५।५८ पृ. ६६ एवं उत्तरा., २२।५
५. उत्तरा , २२।६
६. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ० ८०

पति बन चुके थे। एक दिन अरिष्टनेमि अपने साथियों सहित श्रीकृष्ण की आयुधशाला में गये। आयुध शाला के रक्षकों ने श्रीकृष्ण के शस्त्रों का महत्व बताया और यह भी कहा कि उन्हें कोई दूसरा नहीं उठा सकता है क्योंकि किसी में इतनी शक्ति ही नहीं है। इस पर अरिष्टनेमि ने उनके सुदर्शन चक्र को अंगुली पर रखकर घुमा दिया, उनके शारंग धनुष को कमल-नाल की भांति मोड़ दिया, उनकी कौमुदी गदा सहज ही उठाकर कंधे पर रख ली एवं उनके पाञ्चजन्य शंख को उठाकर फूंका। दिव्य-शंख ध्वनि से द्वारिकापुरी गूंज उठी। उस प्रचण्ड ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा विस्मय हुआ और वे सीधे आयुधशाला में पहुंचे। वे यह जानकर आश्चर्यचकित हो गये कि शंख अरिष्टनेमि ने बजाया था। श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि के पराक्रम की जानकारी मिल गई।

श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि के बाहुबल की परीक्षा लेने के दृष्टिकोण से कहा— "*व्यायामशाला चलो। वहां चलकर बाहुबल की परीक्षा करेंगे क्योंकि मेरे* पाञ्चजन्य शंख को फूंकने की शक्ति मेरे अतिरिक्त किसी में भी नहीं है।" इस पर दोनों व्यायामशाला पहुँचे। अनेक दर्शक भी एकत्र हो गये। श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा फैलाई और कहा – 'इसे नीचे झुकाओ'। अरिष्टनेमि ने क्षणमात्र में श्रीकृष्ण की भुजा को झुका दिया। उपस्थित जनसमुदाय मुक्तकंठ से अरिष्टनेमि की प्रशंसा करने लगा। अब अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा फैलाई। श्रीकृष्ण उसे झुकाने लगे, उन्होंने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग किया; यहां तक कि वे उससे झूल गये किन्तु अरिष्टनेमि की भुजा को तनिक भी झुका नहीं पाये। इस पर श्रीकृष्ण ने भी अरिष्टनेमि के अतुलित पराक्रम की प्रशंसा की।[1]

प्रस्तुत घटना अरिष्टनेमि के धैर्य, शौर्य और प्रबल पराक्रम को प्रकट करती है।

विवाह प्रसंग :

माता-पिता एवं अन्य स्वजनों ने अरिष्टनेमि से विवाह कर लेने का कई बार आग्रह किया था किन्तु अरिष्टनेमि ने अपनी स्वीकृति नहीं दी थी।

१ विस्तृत विवरण के लिए देखें त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, ८।९.

इस कारण सब निराश थे। श्रीकृष्ण ने अपनी पटरानियों से कहा कि वे किसी प्रकार अरिष्टनेमि को विवाह के लिये तैयार करें। इस प्रसंग में जब रानियों ने अनेकविध प्रयास कर अरिष्टनेमि से विवाह करने की प्रार्थना की तो वे केवल मुस्करा दिये। बस। इसे ही स्वीकृति मान ली गई।

श्रीकृष्ण की एक पटरानी सत्यभामा की बहन राजीमती को अरिष्टनेमि के लिये सर्वप्रकार से योग्य पाकर श्रीकृष्ण ने कन्या के पिता उग्रसेन के समक्ष इस सम्बन्ध में प्रस्ताव रखा। उग्रसेन ने तत्काल प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अरिष्टनेमि ने इन प्रयत्नों का विरोध नहीं किया और न ही वाचिक रूप से उन्होंने अपनी स्वीकृति भी दी।

यथा समय अरिष्टनेमि की भव्य बारात सजी। अनुपम शृंगार कर वस्त्राभूषण से सजाकर दूल्हे को विशिष्ट रथ पर आरूढ़ किया गया। समुद्रविजय सहित समस्त दशार्ह श्रीकृष्ण, बलराम और समस्त यदुवंशी उल्लसित मन के साथ सम्मिलित हुए। बारात की शोभा शब्दातीत थी। अपार वैभव और शक्ति का समस्त परिचय यह बारात उस समय देने लगी थी। स्वयं देवताओं में इस शोभा के दर्शन करने की लालसा जागी। सौधर्मेन्द्र इस समय चिंतित थे। वे सोच रहे थे कि पूर्व तीर्थंकर ने तो २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमी स्वामी के लिये घोषणा की थी कि वे बाल ब्रह्मचारी के रूप में दीक्षा लेंगे। फिर इस समय यह विपरीताचार कैसा? उन्होंने अवधि ज्ञान से पता लगाया कि वह घोषणा विफल नहीं होगी। वे किंचित तुष्ट हुए किन्तु ब्राह्मण का वेश धारण कर बारात के सामने आ खड़े हुए और श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि कुमार का विवाह जिस लग्न में होने जा रहा है, वह महा अनिष्टकारी है। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण को फटकार दिया। तिरस्कृत होकर ब्राह्मण वेशधारी सौधर्मेन्द्र अदृश्य हो गये, किन्तु यह चुनौती दे गये कि आप अरिष्टनेमि का विवाह कैसे करते हैं? हम भी देखेंगे।

बारात गन्तव्य स्थान के समीप पहुँची। इस समय वधू राजीमती अत्यन्त व्यग्रमन से वर-दर्शन की प्रतीक्षा में गवाक्ष में बैठी थी। राजीमती अनुपम, अनिंद्य सुन्दरी थी। उसके सौन्दर्य पर देवबालाएं भी ईर्ष्या करती थीं और इस समय तो उसके आभ्यन्तरिक उल्लास ने उसकी रूप माधुरी को सहस्त्रगुना कर दिया था। अशुभ शकुन से सहसा राजकुमारी चिन्ता सागर में डूब गई।

उसकी दाहिनी आंख और दाहिनी भुजा जो फड़क उठी थी। वह भावी अनिष्ट की कल्पना से कांप उठी। इस विवाह में विघ्न की आशंका उसे उत्तरोत्तर बलवती होती प्रतीत हो रही थी। उसके मानसिक रंग में भंग तो अभी से होने लग गया था। सखियों ने उसे धैर्य बंधाया और आशंकाओं को मिथ्या बताया। वे बार बार उसके इस महाभाग्य का स्मरण कराने लगी कि उसे अरिष्टनेमि जैसा योग्य पति मिल रहा है।

बारात का लौटना :

बारात ज्यों ज्यों आगे बढ़ती थी, त्यों त्यों सबके मन का उत्साह भी बढ़ता जाता था। उग्रसेन के राजभवन के समीप जब बारात पहुंची तो अरिष्टनेमि ने पशु-पक्षियों का करूण-क्रन्दन सुना और उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने सारथी से इस विषय में पूछा तो ज्ञात हुआ कि समीप के अहाते में अनेक पशु-पक्षियों को एकत्र कर रखा है। उन्हीं की चीख-चिल्लाहट का यह शोर है। अरिष्टनेमि के प्रश्न के उत्तर में उसने आगे यह भी बताया कि उनके विवाह के उपलक्ष में विशाल भोज दिया जायेगा, उसमें इन्हीं पशु-पक्षियों का मांस प्रयुक्त होगा। इसीलिये इन्हें पकड़ा गया है। इस पर अरिष्टनेमि के मन में उत्पन्न करूणा और अधिक प्रबल हो गई। उन्होंने सारथी से कहा कि तुम जाकर इन सभी पशु-पक्षियों को मुक्त कर दो। आज्ञानुसार सारथी ने उन्हें मुक्त कर दिया। प्रसन्न होकर अरिष्टनेमि ने अपने वस्त्रालंकार उसे पुरस्कार में दिये और तुरन्त रथ को द्वारिका की ओर लौटा लेने का आदेश दिया।

रथ को लौटता देखकर सब के मन विचलित हो गये। श्रीकृष्ण, समुद्र-विजय आदि ने उन्हें बहुत रोकना चाहा किन्तु वे नहीं माने, वे लौट ही गये।

यह अशुभ समाचार पाकर राजकुमारी राजीमती मूर्च्छित हो गई। सचेत होने पर सखियां उसे दिलासा देने लगीं। अच्छा हुआ कि निर्मम अरिष्टनेमि से तुम्हारा विवाह टल गया। महाराजा तुम्हारे लिये अन्य कोई योग्य वर खोजेंगे। किन्तु राजकुमारी को ये वचन बाण के समान लग रहे थे। वह तो अरिष्टनेमि को हृदय से अपना पति स्वीकार कर चुकी थी। अब तो किसी

अन्य पुरूष की कल्पना को भी मन में स्थान देना वह पाप समझती थी। उसने सांसारिक भोगों को तिलांजलि दे दी ।1

वैदिक साहित्य में जैसा स्थान राधा और श्रीकृष्ण का है, वैसा ही स्थान जैन साहित्य में राजीमती और अरिष्टनेमि का है। हां ! राजीमती के समक्ष किसी भी प्रकार की भौतिक वासना को स्थान नहीं है। यही कारण है कि जब अरिष्टनेमि साधना के मार्ग पर बढ़ते हैं तब वह भी उसी मार्ग को ग्रहण करती है और कठोर साधना कर अरिष्टनेमि के पूर्व ही मुक्त होती है। यदि वासनायुक्त प्रेम होता तो वह साधना को न अपना सकती।2

दीक्षा एवं पारणा :

भगवान् अरिष्टनेमि के भोग-कर्म क्षीण हो रहे थे। विरक्त होकर आत्म-कल्याण के लिये संयम ग्रहण करने की अभिलाषा वे व्यक्त करने लगे। लोकांतिक देवों की प्रार्थना से वे वर्षीदान की ओर प्रवृत्त हुए। अपार धन दान कर वे याचकों को संतुष्ट करते रहे। वर्ष भर दान करने के उपरांत भगवान् श्रावण शुक्ला छट्ठ के दिन पूर्वान्ह के समय उत्तराकुरू शिविका में बैठकर द्वारिका नगरी के मध्य में होकर रेवत नामक उद्यान में पहुंचे।3 वहां अशोक वृक्ष के नीचे स्वयं अपने आभूषण उतारते हैं और पंचमुष्टि लोच करते हैं।4

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्या०, पृ. १२-११३ विस्तार के लिये देखें।

(१) त्रिषष्टि शलाका०; पर्व आठ सर्ग ९

(२) उत्तराध्ययन, २२ वां अध्याय

(३) उत्तरपुराण, (४) हरिवंशपुराण, (५) भवभावना,

(६) चउपन; महापुरिसचरियं।

(७) तीर्थंकर चरित्र, भाग २ पृ० ५८४-५९१

(८) भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ. ८६ से ९४

(९) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ. ५२ से ६०

२. भ अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ. ९४

३. समयावांग सूत्र, १५७-१७

४. ,२२।२४

निर्जल षष्ठभक्त के साथ चित्रा नक्षत्र के योग से देव-दूष्य[1] वस्त्र को लेकर हजारों पुरुषों के साथ मुण्डित होकर मुनिधर्म स्वीकार करते हैं।[2] भगवान् के दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मनः-पर्यवज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।[3] भगवान् तीन सौ वर्षों तक गृहस्थाश्रम में रहे और उसके उपरांत संयम ग्रहण किया।

भगवान् श्री अरिष्टनेमि फिर गोष्ठ पधारे, वहीं वरदत्त-ब्राह्मण के यहां परमान्न से उनका पारणा हुआ।[4]

भगवान् के पारणे के स्थान का नाम द्वारावती नगरी[5] एवं द्वारिका-पुरी[6] भी मिलता है।

केवलज्ञान :-

भगवान् ५४ दिन की छद्मस्थावस्था में रहकर विभिन्न प्रकार के तप करते रहे और फिर रेवत पर्वत पर लौट आये। वहां आकर भगवान् अष्टम तप में लीन हो गये। शुक्ल ध्यान से भगवान् ने समस्त घाति कर्मों को क्षीण कर दिया और आश्विन कृष्णा अमावस्या की अर्द्धरात्रि से पूर्व चित्रा नक्षत्र के योग में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।[7] भगवान् के केवलज्ञान प्राप्ति के समय में अलग-अलग विवरण मिलता है। जिस स्थान पर अरिष्टनेमि ने दीक्षा ग्रहण की थी, उसी स्थान पर भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[8]

सहस्राम्रवन के रक्षक ने भगवान् के केवलज्ञान प्राप्ति की सूचना वासुदेव श्रीकृष्ण को दी। इस समाचार से श्रीकृष्ण अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने समाचार सुनाने वाले को बारह-कोटि सौनेय दान में दिये।[9]

१. कल्पसूत्र सू, १६४ पृ. २३१
२. आव. निर्युक्ति, गा. २२५
३. त्रिषष्टि०. ८।६।२५३
४. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्म. श्रीकृष्ण, पृ. ६८-६६
५. उत्तरपुराण, ७१।१७५-१७६
६. हरिवंश पुराण, ५५।१२६
७. ऐति. काल के तीन तीर्थंकर, पृ. ६४, चौबीस तीर्थं. : एक. पृ. ११४
८. आ. नि., २५४
६. त्रिषष्टि., ८।६।२८४

देवताओं ने भगवान् के समवसरण की रचना की। भगवान् श्री अरिष्ट-नेमि ने त्याग और वैराग्य पूर्ण प्रवचन दिया जिसे सुनकर सर्वप्रथम वरदत्त राजा ने दीक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त दो हजार अन्य क्षत्रियों ने भी संयम व्रत अंगीकार किया। एक यक्षिणी नामक राजकुमारी ने भी अनेक राजकुमारियों के साथ दीक्षा व्रत स्वीकार किया। अनेक राजपुरुषों एवं महिलाओं ने श्रावक श्राविका धर्म स्वीकार किया। १ इस प्रकार भगवान् श्री अरिष्टनेमि चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की दीक्षा :

राजीमती के अन्तर्मन में ये विचार उत्पन्न हुए कि भगवान् श्री अरिष्ट-नेमि धन्य हैं जिन्होंने मोह पर विजय प्राप्त कर ली है। वे निर्मोही बन चुके हैं। मुझे धिक्कार है जो मोह के दलदल में फंसी हुई हूं। अब मेरे लिये यह उचित है कि इस संसार को त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर लूं।2

ऐसा दृढ़ संकल्प करके उसने कंघी से संवरे हुए भ्रमर-सदृश काले केशों को उखाड़ डाला। वह सर्व इन्द्रियों को जीतकर दीक्षा के लिये तैयार हो गई। श्रीकृष्ण ने राजीमती को आशीर्वाद दिया। "हे कन्या ! इस भयंकर संसार सागर से तू शीघ्र तर।" राजीमती ने भगवान् श्री अरिष्टनेमि के पास अनेक राजकन्याओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। रथनेमि ने भी उस समय भगवान् के पास संयम ग्रहण किया।3

रथनेमि को प्रतिबोध :

रथनेमि भगवान् श्री अरिष्टनेमि के लघु भ्राता थे और उनके तोरण से लौटने के बाद रथनेमि राजीमती पर मोहित हो गये थे। जब राजीमती ने प्रव्रज्या ग्रहण की तब भगवान् रेवताचल पर्वत पर विराजमान थे। अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिये रेवतगिरि की ओर चल पड़ी। अकस्मात् आकाश में उमड़ घुमड़ कर घटायें घिर आईं

१. त्रिषष्टि., ८।९।३७८-३७९
२. उत्तराध्ययन—२२।५९
३. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ. १११

और वर्षा होने लगी जिससे साध्वियां इधर उधर गुफाओं में चली गई। राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुंची, जिसे आज भी लोग राजीमती गुफा कहते हैं। उसको यह ज्ञात नहीं था कि इस गुफा में पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं। उसने अपने भीगे कपडे उतारकर सुखाने के लिये फैलाये।

नग्नावस्था में राजीमती को देखकर रथनेमि का मन विचलित हो उठा। उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गई। उसको भयभीत और कांपती हुई देखकर रथनेमि बोले- "हे भद्रे! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूं। हे सुरूपे! मुझे अब भी स्वीकार करो। हे चारुलोचने! तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है। आओ, जरा, इन्द्रिय सुखों का भोग कर लें। मनुष्य जन्म बहुत दुर्लभ है। अतः भुक्त भोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे।"

रथनेमि को इस प्रकार मग्न चित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देखकर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमों से सुस्थिर होकर कुल जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए बोली—"रथनेमि! तुम साधारण पुरुष हो, यदि साक्षात रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूबर तथा साक्षात इन्द्र भी आ जाय तो भी मैं उन्हें नहीं चाहूंगी. क्योंकि हम कुलवती हैं। नागजाति में अगंधन सर्प होते हैं जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते हुए लज्जा नहीं आती? रथनेमि तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।"

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुनकर अंकुश से उन्मत हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुंचकर आलोचना प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्म समूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी

देवताओं ने भगवान् के समवसरण की रचना की। भगवान् श्री अरिष्ट-नेमि ने त्याग और वैराग्य पूर्ण प्रवचन दिया जिसे सुनकर सर्वप्रथम वरदत्त राजा ने दीक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त दो हजार अन्य क्षत्रियों ने भी संयम व्रत अंगीकार किया। एक यक्षिणी नामक राजकुमारी ने भी अनेक राजकुमारियों के साथ दीक्षा व्रत स्वीकार किया। अनेक राजपुरुषों एवं महिलाओं ने श्रावक श्राविका धर्म स्वीकार किया।[1] इस प्रकार भगवान् श्री अरिष्टनेमि चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की दीक्षा :

राजीमती के अन्तर्मन में ये विचार उत्पन्न हुए कि भगवान् श्री अरिष्ट-नेमि धन्य हैं जिन्होंने मोह पर विजय प्राप्त कर ली है। वे निर्मोही बन चुके हैं। मुझे धिक्कार है जो मोह के दलदल में फंसी हुई हूं। अब मेरे लिये यह उचित है कि इस संसार को त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर लूं।[2]

ऐसा दृढ़ संकल्प करके उसने कंघी से संवरे हुए भ्रमर-सदृश काले केशों को उखाड़ डाला। वह सर्व इन्द्रियों को जीतकर दीक्षा के लिये तैयार हो गई। श्रीकृष्ण ने राजीमती को आशीर्वाद दिया। "हे कन्या! इस भयंकर संसार सागर से तू शीघ्र तर।" राजीमती ने भगवान् श्री अरिष्टनेमि के पास अनेक राजकन्याओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। रथनेमि ने भी उस समय भगवान् के पास संयम ग्रहण किया।[3]

रथनेमि को प्रतिबोध :

रथनेमि भगवान् श्री अरिष्टनेमि के लघु भ्राता थे और उनके तोरण से लौटने के बाद रथनेमि राजीमती पर मोहित हो गये थे। जब राजीमती ने प्रव्रज्या ग्रहण की तब भगवान् रेवताचल पर्वत पर विराजमान थे। अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिये रेवतगिरि की ओर चल पड़ी। अकस्मात् आकाश में उमड़ घुमड़ कर घटायें घिर आईं

१. त्रिषष्टि., ८।९।३७८-३७९
२. उत्तराध्ययन—२२।२९
३. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, पृ. १११

और वर्षा होने लगी जिससे साध्वियां इधर उधर गुफाओं में चली गई। राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुंची, जिसे आज भी लोग राजीमती गुफा कहते हैं। उसको यह ज्ञात नहीं था कि इस गुफा में पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं। उसने अपने भीगे कपडे उतारकर सुखाने के लिये फैलाये।

नग्नावस्था में राजीमती को देखकर रथनेमि का मन विचलित हो उठा। उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गई। उसको भयभीत और कांपती हुई देखकर रथनेमि बोले- "हे भद्रे ! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूं। हे सुरूपे ! मुझे अब भी स्वीकार करो। हे चारूलोचने ! तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है। आओ, जरा, इन्द्रिय सुखों का भोग कर लें। मनुष्य जन्म बहुत दुर्लभ है। अतः भुक्त भोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे।"

रथनेमि को इस प्रकार मग्न चित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देखकर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमों से सुस्थिर होकर कुल जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए बोली—"रथनेमि ! तुम साधारण पुरुष हो, यदि साक्षात रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूबर तथा साक्षात इन्द्र भी आ जाय तो भी मैं उन्हें नहीं चाहूंगी. क्योंकि हम कुलवती हैं। नागजाति में अगंधन सर्प होते हैं जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते हुए लज्जा नहीं आती ? रथनेमि तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।"

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुनकर अंकुश से उन्मत हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुंचकर आलोचना प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्म समूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी

भगवच्चरणों में पहुंच कर वंदन किया और तप संयम का साधन करते हुए केवल ज्ञान की प्राप्ति करली और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।[1]

भविष्य कथन :

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए प्रभु द्वारिका पधारे। श्रीकृष्ण भगवान की सेवा में पधारे। श्रीकृष्ण ने अपने मन की सहज जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हुए द्वारिकानगरी के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि यह स्वर्गोपम नगरी ऐसी ही बनी रहेगी अथवा विनाश होगा ?

भगवान् ने भविष्यवाणी करते हुए कहा कि शीघ्र ही यह सुन्दर नगरी मदिरा, अग्नि और ऋषि इन तीन कारणों से नष्ट होगी।

श्रीकृष्ण को चितामग्न देखकर प्रभु ने इस विनाश से बचने का उपाय भी बताया। उन्होंने कहा कि कुछ उपाय हैं, जिससे नगरी को अमर तो नहीं बनाया जा सकता किन्तु उसकी आयु अवश्य ही बढ़ाई जा सकती है। वे उपाय ऐसे हैं, जो सभी नागरिकों को अपनाने होंगे। संकट का पूर्वा विवेचन करते हुए भगवान् ने कहा कि कुछ मद्य प्रेमी यादवकुमार द्वैपायन ऋषि के साथ अभद्र व्यवहार करेंगे। ऋषि क्रोधावेश में द्वारिका को भस्म करने की प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। काल को प्राप्त कर ऋषि अग्निदेव बनेंगे और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। अर्थात् यदि नागरिक मांस-मदिरा का सर्वथा त्याग करे और तप करते रहें तो नगर की सुरक्षा सम्भव है।

श्रीकृष्ण ने द्वारिका में मद्यपान का निषेध कर दिया और जितनी भी मदिरा उस समय थी, उसे जंगलों में प्रवाहित कर दिया गया। सभी ने सर्वनाश से रक्षा पाने के लिये मदिरा का सदा सदा के लिये त्याग कर दिया और यथाशक्ति तप में प्रवृत्ति रखने लगे।

१. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ. ६६-६७ और देखें
   (१) उत्तराध्ययन सुख बोध-२८१
   (२) उत्तराध्ययन अ. २२
   (३) दशवैकालिक सूत्र अ. २
   (४) तीर्थंकर चरित्र, भाग २ पृ. ५६३-५६४

समय व्यतीत होता रहा और भगवान् की चेतावनी की ओर लोगों का ध्यान हटता रहा। जनता असावधान होने लगी। संयोग से कुछ यादवकुमार कदम्बवन की ओर भ्रमणार्थ गये थे। वहां उन्हें पूर्व में प्रवाहित मदिरा कहीं शिला संधियों में सुरक्षित मिल गयी। उन्हें तो आनन्द ही आ गया। खूब छककर मदिरापान किया और उसके उपरांत विचार आया द्वैपायन ऋषि का, जो द्वारका के विनाश के प्रमुख कारण बनने वाले हैं। उन्होंने विचार किया कि ऋषि का ही आज वध कर दिया जाय। नगरी इससे सुरक्षित हो जायगी।

इन मद्यप युवकों ने ऋषि पर प्रहार कर दिया। प्रचण्ड क्रोध से अभिभूत द्वैपायन ने उनके सर्वनाश की प्रतिज्ञा कर ली। भविष्यवाणी के अनुसार ऋषि मरणोपरान्त अग्निदेव बने किन्तु वे द्वारिका की कोई भी हानि नहीं कर पाये, क्योंकि उस नगरी में कोई न कोई तप करता ही रहता था और अग्निदेव का वस ही नहीं चल पाता था। धीरे धीरे सभी निश्चिंत हो गये कि अब कोई खास आवश्यकता नहीं है और सभी ने तप त्याग दिया। अग्निदेवता को ग्यारह वर्षों के बाद अवसर मिला। शीतल जल वर्षा करने वाले मेघों का निवास स्थान यह स्वच्छ व्योम अब अग्नि वर्षा करने लगा। सर्वभांति समृद्ध द्वारिका नगरी भीषण ज्वालाओं से भस्म-समूह के रूप में ही अवशिष्ट रह गयी। मदिरा अन्ततः द्वारिका के विनाश का प्रधान कारण बनी।[1]

धर्म-परिवार :

गण एवं गणधर	—	११ वरदत्त आदि गणधर एवं ११ ही गण
केवली	—	१५००

१. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. ११६-११७
(२) भगवान अरिष्टनेमि और कर्म. श्रीकृष्ण, पृ. १२२-१२४
(३) अन्तगड़दशा, वर्ग ५ अ. १
(४) त्रिषष्टि., ८।११
(५) तीर्थंकर चरित्र, भाग-२, पृ. ६४६ से ६५
(६) ऐति. के तीन तीर्थंकर, पृ. ८६ से ८८

मनः पर्यवज्ञानी	—	१०००
अवधि ज्ञानी	—	१५००
चौदह पूर्वधारी	—	४००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	१५००
वादी	—	८००
साधु	—	१८०००
साध्वी	—	४००००
श्रावक	—	१६९०००
श्राविका	—	३३६०००
अनुत्तर गतिवाले	—	१६००

परिनिर्वाण :

अंतिम समय निकट जानकर भगवान् अरिष्टनेमि ने रैवतक शैल शिखर पर पांच सौ छत्तीस मुनियों के साथ जल रहित मासिक अनशन ग्रहण किया। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में मध्यरात्रि में आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त किया और वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।[1]

भगवान् अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमारावस्था में, चौपन रात्रि दिवस छद्मस्थावस्था में, चौपन दिन कम सात सौ वर्ष केवली अवस्था में और सात सौ वर्ष श्रमण अवस्था में रहे।[2]

विशेष :

द्रोपदी की गवेषणा के लिये श्रीकृष्ण धातकी खण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहां के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतः चक्रवर्ती एवं वासुदेव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाते पर श्रीकृष्ण गये, यह आश्चर्य की बात है।[3]

⊙

१. त्रिषष्टि., ८।१२।१०८-१०९

२. वही., ८।१२।११५

३. ऐति. तीन तीर्थंकर, पृ. २०९, त्रिषष्टि., ८।१०, ज्ञाताधर्म क०

२४. भगवान श्री पार्श्वनाथ (चिन्ह-नाग)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि के उपरांत भगवान् श्री पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर हुए। भगवान् पार्श्वनाथ का समय ईसा पूर्व ९ वीं-१० वीं शताब्दी माना जाता है। इतिहासकार भगवान् श्री पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं। भगवान् श्री पार्श्वनाथ भगवान् श्री महावीर के दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए।

उस समय एक ओर तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था, दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ाकर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुलकर होता था। जब लोक-मानस कल्याण-मार्ग का निर्णय करने में दिग्मूढ़ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् श्री पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में अवतरण हुआ। उनका करूण कोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शांति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्म-ध्यान, इन्द्रिय दमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहासकारों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञ-प्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् श्री पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश क्षेत्र बनाना पड़ा। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यज्ञ का विरोध भगवान् श्री महावीर के समय में भगवान् श्री पार्श्वनाथ के समय से भी उग्ररूप से किया गया था फिर भी वे अपने जन्म स्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में भगवान् श्री पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।[1]

१. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ. १४७

पूर्वभव :

पूर्वभव की साधना के फलस्वरूप ही भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने तीर्थंकर पद की योग्यता का अर्जन किया । भगवान् श्री पार्श्वनाथ का साधनारम्भ काल दशभव पूर्व से बताया गया है जिनका विस्तृत विवरण चउपन्न महापुरिस चरियम्, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आदि ग्रंथों में बताया गया है। भगवान् के जो दशभव बताये गये हैं उनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—

१. मरूभूति और कमठ का भव
२. हाथी का भव
३. सहस्त्रार देव लोक का भव
४. किरणदेव विद्याधर का भव
५. अच्युत देवलोक का भव
६. वज्रनाभ का भव
७. ग्रैवेयक देवलोक का भव
८. स्वर्णबाहु का भव
९. प्राणत देवलोक का भव
१०. पार्श्वनाथ का भव ।

पोतनपुर नगर के नरेश महाराजा अरविन्द जैन धर्म परायण थे । उनके राजपुरोहित विश्वभूति के दो पुत्र थे- बड़ा कमठ और छोटा मरूभूति । पिता के स्वर्गवास के बाद कमठ ने पिता का कार्यभार संभाला, किन्तु मरूभूति की रुचि सांसारिक विषयों में नहीं थी । वह सर्वसावद्य योगों को त्यागने के अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में रहा करता । दोनों भाइयों के मनोजगत में जमीन आसमान का अन्तर था । कमठ कामुक और दंभी था । इन दुर्गुणों ने उसके चरित्र को पतित कर दिया था । यहां तक कि अपने अनुज की पत्नी से भी उसके अनुचित सम्बन्ध थे । कमठ की पत्नी इसे कैसे सहन करती ? उसने देवर को इस बीभत्स कांड की सूचना दे दी, किन्तु मरूभूति सहज ही इसमें सत्यता का अनुभव नहीं कर पाया । उसका सरल हृदय सर्वथा कपटहीन था और अपने अग्रज कमठ के प्रति ऐसे किसी भी समाचार को वह विश्वसनीय

नहीं दे पाती। उसने यह घोर अनाचार जब स्वयं देखा तो वह सन्न रह गया। उसने राजा की सेवा में प्रार्थना की और राजा ब्राह्मण होने के नाते कमठ को मृत्यु दण्ड तो नहीं दे पाया, किन्तु उसे राज्य से निष्कासित कर दिया।

कमठ ने जंगल में कुछ दिनों पश्चात् तपस्या प्रारम्भ कर दी। अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर नेत्र निमीलित कर बैठ गया। समीप के क्षेत्र में कमठ के तप की प्रशंसा होने लगी और श्रद्धाभाव के साथ जनसमुदाय वहां एकत्र रहने लगा। मरूभूति ने जब इस विषय में सुना तो उसका सरल मन पश्चाताप में डूब गया। वह सोचने लगा कि मैंने कमठ के लिये घोर-यातनापूर्ण परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं। उसके मन में उत्पन्न पश्चाताप का भाव तीव्र होकर उसे प्रेरित करने लगा कि वह कमठ से क्षमायाचना करे। वह कमठ के पास पहुंचा उसे देखकर कमठ का वैमनस्यभाव वीभत्स हो उठा। मरूभूति जब क्षमायाचना हेतु अपना मस्तक कमठ के चरणों में झुकाए हुए था, तभी कमठ ने एक भारी प्रस्तर उसके सिर पर दे मारा। मरूभूति का वहीं प्राणांत हो गया। इसी भव में नहीं आगामी अनेक जन्मों में कमठ अपनी शत्रुता के कारण मरूभूति के जीव को त्रस्त करता रहा।

यह विवरण है भगवान् के दशपूर्व भवों में से प्रथम भव का। आठवें भव में मरूभूति का जीव स्वर्णबाहु के रूप में उत्पन्न हुआ। पुराणपुर नगर में एक समय महाराजा कुलिशबाहु का शासन था। इनकी धर्मपत्नी महारानी सुदर्शना थी।

मध्य ग्रैवेयक का आयुष्य समाप्त कर जब वज्रनाभ के जीव का च्यवन हुआ तो उसने महारानी सुदर्शन के गर्भ में स्थिति पायी। इसी रात्रि को रानी ने चौदह दिव्य स्वप्न देखे और इनके शुभ फलों से अवगत होकर वह फूली न समायी कि वह चक्रवर्ती अथवा धर्मचक्री पुत्र की जननी बनेगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर रानी ने एक सुन्दर और तेजस्वी कुमार को जन्म दिया पिता महाराजा कुलिशबाहु ने कुमार का नाम स्वर्णबाहु रखा।

स्वर्णबाहु जब युवक हुए तो वे धीर, वीर, साहसी और पराक्रमी थे। सब प्रकार से योग्य हो जाने पर महाराजा कुलिशबाहु ने कुमार को राज्यभार सौंपा और प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। राजा के रूप में स्वर्णबाहु ने प्रजावत्सलता और पराक्रम का अच्छा परिचय दिया। एक समय राज्य के आयुधागार में चक्ररत्न

उदित हुआ जिसके परिणामस्वरूप महाराजा स्वर्णबाहु छः खण्ड पृथ्वी की साधना कर चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से विभूषित हुए ।

पुराणपुर में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवसरण था । महाराजा स्वर्णबाहु भी वहां उपस्थित हुए । वहीं वैराग्य की महिमा पर चिंतन करते हुए उन्हें जाति-स्मरण हो गया । अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया । मुनि स्वर्णबाहु ने अर्हत्‌भक्ति आदि बीस बोलों की आराधना और कठोर तप के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । एक समय मुनि स्वर्णबाहु विहार करते हुए क्षीरपर्णा वन में पहुंचे । कमठ का जीव अनेक भवों की यात्रा करते हुए इस समय इसी वन में सिंहभव में विचर रहा था । वन में मुनि को देखकर सिंह को पूर्वभवों का वैर स्मरण हो आया और क्रोधित होकर उसने मुनि स्वर्णबाहु पर आक्रमण कर दिया । मुनि अपना अंतिम समय समझकर सचेत हो गये और उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया । सिंह ने मुनि का काम तमाम कर दिया । इस प्रकार मुनि स्वर्णबाहु ने समाधिपूर्वक देह त्याग किया और महाप्रभ विमान में महर्द्धिक देव बने । सिंह भी मरण प्राप्त कर चौथे नरक में नैरयिक हुआ ।[1]

जन्म और माता-पिता :

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोगकर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । माता वामादेवी चौदह शुभ स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्ररत्न की सुरक्षा के लिये सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करती रही । गर्भकाल के पूर्ण होने पर

१. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ. १२०-१२१
(२) भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अ , पृ. ३७ से ५८
(३) ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ. १४७ से १५०
(४) आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ३५३ से ३५८
(५) तीर्थंकर चरित्र, भा० ३, पृ. ४१ से ५२

उदित हुआ जिसके परिणामस्वरूप महाराजा स्वर्णबाहु छः खण्ड पृथ्वी की साधना कर चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से विभूषित हुए ।

पुराणपुर में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवसरण था । महाराजा स्वर्णबाहु भी वहां उपस्थित हुए । वहीं वैराग्य की महिमा पर चिंतन करते हुए उन्हें जाति-स्मरण हो गया । अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया । मुनि स्वर्णबाहु ने अर्हत्‌भक्ति आदि बीस बोलों की आराधना और कठोर तप के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । एक समय मुनि स्वर्णबाहु विहार करते हुए क्षीरपर्णा वन में पहुंचे । कमठ का जीव अनेक भवों की यात्रा करते हुए इस समय इसी वन में सिंहभव में विचर रहा था । वन में मुनि को देखकर सिंह को पूर्वभवों का बैर स्मरण हो आया और क्रोधित होकर उसने मुनि स्वर्णबाहु पर आक्रमण कर दिया । मुनि अपना अंतिम समय समझकर सचेत हो गये और उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया । सिंह ने मुनि का काम तमाम कर दिया । इस प्रकार मुनि स्वर्णबाहु ने समाधिपूर्वक देह त्याग किया और महाप्रभ विमान में महर्द्धिक देव बने । सिंह भी मरण प्राप्त कर चौथे नरक में नैरयिक हुआ ।[1]

जन्म और माता-पिता :

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोगकर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । माता वामादेवी चौदह शुभ स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्ररत्न की सुरक्षा के लिये सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करती रही । गर्भकाल के पूर्ण होने पर

१. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ. १२०-१२१
(२) न् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अ , पृ. ३७ से ५८
(३) ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ. १४७ से १५०
(४) आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ३५३ से ३५८
(५) तीर्थंकर चरित्र, भा० ३, पृ. ४१ से ५२

पौष कृष्णा दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।1 तिलोय पण्णत्ति के अनुसार भगवान् श्री पार्श्वनाथ का जन्म भगवान् श्री अरिष्टनेमि के जन्मकाल से ८४६५० वर्ष व्यतीत होने के बाद हुआ।2 भगवान् के जन्म से घर घर में आमोद-प्रमोद का मंगलमय वातावरण हो गया।

नामकरण :

बारहवें दिन नामकरण के लिये महाराज अश्वसेन ने अपने परिवार के सदस्यों एवं मित्रों को आमंत्रित किया और बताया कि जब बालक गर्भ में था उस समय इसकी माता ने रात्रि के अंधकार में पास में चलते हुए सर्प को देखकर मुझे सूचित कर प्राण हानि से बचाया था। इसलिये बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा जाना चाहिये था। अतः बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।3 ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि बालक का पार्श्वनाथ नाम इन्द्र ने रखा।4

बाल लीलाएं :

राजकुमार पार्श्वनाथ के बचपन में जो उल्लेखनीय विशेषता थी, वह थी विचार-चेतना। वे प्रत्येक वस्तुस्थिति का बड़ी ही गम्भीरता से निरीक्षण-परीक्षण करते, उसकी सूक्ष्म समीक्षा करते और अदम्य साहस और निर्भीकता के साथ उसका उद्घाटन भी करते। नाग उद्धार की घटना इसका साक्षात् प्रमाण है। नाग उद्धार की घटना का विस्तार से वर्णन जैन साहित्य में मिलता है। संक्षेप में घटना का विवरण इस प्रकार है—

एक दिन युवराज पार्श्वनाथ ने सुना कि नगर में एक तापस आया है, जो पंचाग्नि तप तप रहा है। असंख्य श्रद्धालु नर-नारी उसके दर्शनार्थ पहुंच रहे थे। राजमाता और अन्य स्वजनों को भी जब उन्होंने उस तापस की वन्दना करने हेतु जाते देखा तो उत्सुकतावश वे भी साथ चल दिये। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि अपार जन समुदाय एकत्रित है और मध्य में तापस तप ताप

१. ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० १५० - १५१
२. तिलोय० ४।५७६
३. त्रिषष्टि०, ६।३।४५
४. उत्तर पुराण, पर्व ७३ श्लोक ९२

उदित हुआ जिसके परिणामस्वरूप महाराजा स्वर्णबाहु छः खण्ड पृथ्वी की साधना कर चक्रवर्ती सम्राट के गौरव से विभूषित हुए ।

पुराणपुर में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवसरण था । महाराजा स्वर्णबाहु भी वहां उपस्थित हुए । वहीं वैराग्य की महिमा पर चिंतन करते हुए उन्हें जाति-स्मरण हो गया । अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया । मुनि स्वर्णबाहु ने अर्हत्‌भक्ति आदि बीस बोलों की आराधना और कठोर तप के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । एक समय मुनि स्वर्णबाहु विहार करते हुए क्षीरपर्णा वन में पहुंचे । कमठ का जीव अनेक भवों की यात्रा करते हुए इस समय इसी वन में सिंहभव में विचर रहा था । वन में मुनि को देखकर सिंह को पूर्वभवों का बैर स्मरण हो आया और क्रोधित होकर उसने मुनि स्वर्णबाहु पर आक्रमण कर दिया । मुनि अपना अंतिम समय समझकर सचेत हो गये और उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया । सिंह ने मुनि का काम तमाम कर दिया । इस प्रकार मुनि स्वर्णबाहु ने समाधिपूर्वक देह त्याग किया और महाप्रभ विमान में महर्द्धिक देव बने । सिंह भी मरण प्राप्त कर चौथे नरक में नैरयिक हुआ ।[1]

जन्म और माता-पिता :

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोगकर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । माता वामादेवी चौदह शुभ स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्ररत्न की सुरक्षा के लिये सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करती रही । गर्भकाल के पूर्ण होने पर

१. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ. १२०-१२१
(२) न् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अ , पृ. ३७ से ५८
(३) ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ. १४७ से १५०
(४) आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ३५३ से ३५८
(५) तीर्थंकर चरित्र, भा० ३, पृ. ४१ से ५२

रहा है। अग्नि जब मन्द होने लगती तो बड़े बड़े लक्कड़ तापस अग्नि में डालता जा रहा था। जब इसी प्रकार एक लक्कड़ उसने अग्नि में डाला, तो उसमें पार्श्वनाथ ने एक नाग जीवित-अवस्था में देखा। उनके मन में जीवित नाग के दाह की सम्भावना से अत्यधिक करुणा-भाव उत्पन्न हुआ। साथ ही तापस की ऐसी साधना के प्रति भी घृणा भाव उत्पन्न हुए जिनमें निरीह प्राणियों की प्राण-हानि को भी उपेक्षित समझा जाता। एक ओर एकत्रित जन-समुदाय तापस की स्तुतियां कर रहा था, वहीं दूसरी ओर पार्श्वनाथ के मन में तापस के प्रति, उसके अज्ञान के कारण भर्त्सना के भाव प्रबल होते जा रहे थे। पार्श्वनाथ ने तापस कमठ को सावधान करते हुए कहा कि यह तप किसी शुभ फल को देने वाला नहीं होगा। करुणा-रहित कोई धर्म नहीं हो सकता। यदि ऐसा कोई धर्म माना जाता है तो वह अज्ञानता के कारण ही धर्म माना जा सकता है-वास्तव में आडम्बर और पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अन्य जीवों को कष्ट पहुंचाकर, उनका प्राणांत कर आगे बढ़ने वाली साधना, साधक का कल्याण नहीं कर सकती।

अपनी साधना के प्रति कही गई इस बात को कमठ सहन नहीं कर पाया। उसने राजकुमार के विचारों का प्रत्याख्यान करते हुए रोषपूर्ण शब्दों में कहा कि तप की महिमा को हम अच्छी प्रकार समझते हैं। तुम जैसे राज-दण्ड को धारण करने वालों को इसका मिथ्या दम्भ नहीं रखना चाहिये। कुमार शान्त थे। उन्होंने गम्भीर वाणी में कहा कि धर्म पर किसी व्यक्ति, वंश या वर्ण का एकाधिपत्य नहीं हो सकता। क्षत्रिय होकर भी कोई धर्म के मर्म को न केवल समझ सकता है वरन् समझा भी सकता है और ब्राह्मण होकर भी धर्म के नाम पर अकरुण बन सकता है, जीव हिंसा कर सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो तुम आज एक जीवित प्राणी को अग्नि में नहीं होमते।

एकत्रित जनसमुदाय में अपने प्रति धारणा की अवनति देखकर कमठ क्रोधित हो उठा। क्रोधवश होकर उसने कुमार को अपशब्द भी कहे। उसने कहा कि कुमार! मुझ पर जीव हत्या का दोष लगाकर व्यर्थ ही भक्तों की दृष्टि में मुझे पतित करने का साहस सोच विचार कर करना। मैं किसी भी प्राणी की हत्या नहीं कर रहा हूं।

इस विवाद को व्यर्थ समझ कर पार्श्वनाथ ने नाग की प्राण-रक्षा करने की ठान ली। उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी कि लक्कड़ को अग्नि से तत्काल बाहर निकाल लिया जावे। सेवकों ने तुरन्त आदेश का पालन किया। लक्कड़ को अग्नि से बाहर निकलवाकर नाग को दारुण यातना से मुक्त किया। अब तक नाग भीषण अग्नि से झुलस गया था और मरणासन्न था। उन्होंने उसे नवकार महामंत्र इस उद्देश्य से सुनाया कि उसे सद्‌गति प्राप्त हो सके।

लक्कड़ में से नाग को निकलते देखकर कमठ को तो जैसे काठ ही मार गया। जनता उसकी करुणाहीनता के लिये निंदा करने लगी। वह अचंभित था। इस पर कुमार का यह उपदेश कि अज्ञान तप को त्यागों और दया धर्म का पालन करो-उसको असंतुलित कर देने के लिये पर्याप्त था। घोर लज्जा ने उसे नगर त्याग कर अन्यत्र वनों में चले जाने को विवश कर दिया। वहां भी वह कठोर अज्ञान तप में ही व्यस्त रहा और मरणोपरांत मेघमाली नाम का असुर कुमार देव बना।[1]

शौर्यप्रदर्शन एवं विवाह :

एक समय महाराज अश्वसेन अपनी राजसभा में बैठे हुए विचार विमर्श कर रहे थे कि कुशस्थल के एक दूत ने आकर विनय पूर्वक बताया कि राजन्! मैं कुशस्थल के राजा नरवर्मा का दूत हूं। महाराज नरवर्मा ने अपने पुत्र प्रसेनजित को राज्य-भार सौंपकर दीक्षा अंगीकार कर ली। महाराज प्रसेनजित की प्रभावती नामक एक रूपवती कन्या है। पार्श्वनाथ के रूप और वीरत्व की गाथा सुनकर वह पार्श्वनाथ का ही सतत् ध्यान करती है। उसने पार्श्वनाथ के साथ ही विवाह करने का संकल्प किया है। इस बात का पता जब राजा प्रसेनजित को चला तो उन्होंने प्रभावती को स्वयंवरा की तरह बनारस भेजने

१. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १२२-२३
(२) भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ०७६ से ८६
(३) चउपन्न महा० चरियम्, २१६, २६१, २६२
(४) ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० १५६-१५८
(५) तीर्थंकर चरित्र, भा० ३ पृ० ६०-६१

का विचार किया। कलिंग देश के राजा यवनराज को जब इस बात का पता चला तो उसने प्रभावती की मांग एक दूत के द्वारा की। महाराज प्रसेनजित ने यवनराज की मांग ठुकरा दी। इस बात पर यवनराज क्रोधित हो उठा और उसने विशाल सेना लेकर कुशस्थल को घेर लिया है। महाराज प्रसेनजित इस संकटकाल में आपकी सहायता चाहते हैं। अब जैसा भी आप योग्य समझें वैसा करें।

दूत की बातों से महाराज अश्वसेन की भुजाएँ फड़क उठीं, खून खौलने लगा। उन्होंने दूत को विदा किया और सेना को युद्ध के लिये तैयार होने तथा कूच के लिये आदेश दे दिया। जब पार्श्वनाथ को इस बात का पता चला तो वे स्वयं पिता के पास आये और नम्रतापूर्वक बोले– "पिताजी! मेरे रहते हुए आपको युद्ध में जाने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं युद्ध में जाऊंगा और यवनराज को पराजित करूंगा।" पिता महाराज अश्वसेन ने कहा– "पुत्र! मैं जानता हूं कि तू यवनराज तो क्या तीनों लोकों को अपने भुजबल से जीतने की शक्ति रखता है। किन्तु अभी तेरा खेलने और आनन्द मनाने का समय है। अतः हम तुझे क्रीड़ास्थल पर देखकर जितने प्रसन्न होते हैं उतना युद्ध भूमि में देखकर नहीं। अतः पुत्र! युद्ध में मुझे ही जाने दो। तुम यहां रहकर अपने राज्य की रक्षा करो।" किन्तु पार्श्वनाथ युद्ध हेतु जाने के लिये आग्रह करते ही रहे। उनके आग्रह को देखकर पिता महाराज अश्वसेन ने पार्श्वनाथ को जाने की आज्ञा दे दी। पार्श्वनाथ पिता को प्रणाम कर अपनी सेना के साथ कुशस्थल की ओर चल पड़े।

कुशस्थल पहुंच कर पार्श्वनाथ के नगर ने समीप ही डेरा डाल दिया और एक दूत यवनराज के पास भेजकर कहलवाया कि या तो हमसे युद्ध करो अथवा घेरा उठा लो। यवनराज पार्श्वनाथ के पराक्रम के विषय में परिचित था। फिर भी उसने अपने मंत्रियों से परामर्श किया। अन्त में यही निर्णय हुआ कि पार्श्वनाथ के साथ सन्धि कर घेरा उठा लेना चाहिये। अतः पार्श्वनाथ के साथ संधि कर यवनराज ने कुशस्थल का घेरा उठा लिया। पार्श्वनाथ की इस तेजस्विता से नगरजन और महाराज प्रसेनजित प्रसन्न हुए। पार्श्वनाथ का भव्य-समारोह के साथ नगर में प्रवेश कराया गया। राजा प्रसेनजित विभिन्न प्रकार की भेंट सामग्री लेकर सेवा में उपस्थित हुए और विनम्र शब्दों में निवेदन किया– "राजकुमार! आपने हम पर जो उपकार किया है,

उसे हम कभी भूल नहीं सकते और न प्रत्युपकार करने में ही हम समर्थ हैं। मेरी पुत्री प्रभावती की आपसे विवाह करने की इच्छा है। आप अपने चरणों में स्थान देकर उसे और हमें उपकृत करने की कृपा करें।" पार्श्वनाथ ने कहा- "राजन् ! मैं पिताजी की आज्ञा से कुशस्थल की रक्षा करने आया था, विवाह करने नहीं। अतः आपके इस अनुरोध को पिताजी की आज्ञा के बिना कैसे स्वीकार कर सकता हूं।"

पार्श्वनाथ अपनी सेना के साथ बनारस लौट आये। प्रसेनजित भी आया। महाराज अश्वसेन ने पार्श्वनाथ का विवाह बड़ी धूमधाम से राजकुमारी प्रभावती के साथ करवा दिया। पार्श्वनाथ अपनी पत्नी के साथ सुखपूर्वक रहने लगे।[1]

उपर्युक्त विवरण निम्नांकित ग्रंथों में विस्तार से पाया जाता है-सिरिपासणाह चरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पासणाह चरिउं, चउपन्न महापुरिस चरियं। चउपन्न महापुरिस चरियं में प्रभावती के साथ विवाह का उल्लेख तो मिलता है किन्तु पार्श्वनाथ के कुशस्थल जाने का वर्णन नहीं है।[2] पार्श्वनाथ के विवाह के विषय में भी मतभेद है। जिसका सम्पूर्ण वर्णन करना यहां संभव नहीं है।

दीक्षा एवं पारणा :

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध (स्वतः बोध प्राप्त) होते हैं, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यों ने पार्श्वनाथ का चरित्र-चित्रण करते हुए उनके वैराग्य में बाह्य कारणों का उल्लेख किया है। जैसे चउपन्न महापुरिस चरियम् के कर्त्ता आचार्य शीलांक,[3] सिरिपासणाह चरियं के रचयिता देवभद्रसूरि[4] और पार्श्वनाथ चरित्र के लेखक भावदेव[5] तथा हेमविजय गणि[6] ने

१. (१) आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ३६२–६३
   (२) तीर्थंकर चरित्र, भाग ३ पृ० ५८–६०
   (३) भगवान् पार्श्व : एक समी० अध्य०, पृ० ८६ से ८७
२. चउपन्न० २६१
३. वही० पृ० २६२–२६३
४. प्रस्तावना ३ पृ० १६९–१७०
५. पार्श्वनाथ चरित्र
६. पार्श्वनाथ चरितम् – हेम विजयगणि

भित्ति चित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है। इनके अनुसार उद्यान में घूमने गये पार्श्वनाथ को नेमि के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उत्तरपुराण[1] के अनुसार नाग उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नहीं होती क्योंकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे। जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेंट भेजी। जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिये पूछा तो दूत ने पहले ऋषभदेव का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये ऋषभदेव के त्याग और तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्वकुमार को जाति-स्मरण हो आया। यही वैराग्य का कारण बताया गया है,[2] किन्तु पद्मकीर्ति[3] के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्वकुमार के वैराग्य का मुख्य कारण बनी। महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्वकुमार के वैराग्य का कारण माना है।

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र[4] और वादिराज ने पार्श्वकुमार की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण न मानकर स्वभावतः ही ज्ञानभाव से विरक्त माना है।[5]

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी यही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र में लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थंकरों को निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादारूप ही माना गया है, कारण कि संसार में बोध पाने वालों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं (१) स्वयं बुद्ध (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्ध बोधित। इन तीर्थंकरों को स्वयं बुद्ध कहा है वे किसी गुरू आदि से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक-बुद्ध और ज्ञानगुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-

१. उत्तर पुराण ७३।६५
२. ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० १५८
३. पासणाह चरिउ, ६।३।६२
४. त्रिषष्टि, ६।३
५. ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० १५८

बोधित कहते हैं। तीन ज्ञान के स्वामी होने से तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होते हैं। अतः इनका बाह्य कारण सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नहीं। पार्श्वनाथ सहज विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे काम-भोग में आसक्त नहीं हुए- निर्लिप्त बने रहे।[1]

यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि पार्श्वनाथ को संसारावस्था में ही अवधि ज्ञान[2] था और वह अवधि ज्ञान वे दसवें देवलोक से ही साथ लेकर आये थे। वह अवधि ज्ञान काफी विशुद्ध था जिससे वे अपने पूर्वभव आदि को भी जानते थे। तथापि उपर्युक्त ग्रंथों में जो भित्ति-चित्रों और ऋषभदेव के वृत्तांत को सुनाकर जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा विरक्ति बताई गई है वह विशेष महत्वपूर्ण नहीं लगती। कारण कि जाति-स्मरण ज्ञान मतिज्ञान का ही एक प्रकार है और वह अप्रत्यक्ष ज्ञान है। जबकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है एवं मतिज्ञान से उसका विषय भी अधिक एवं स्पष्ट है।[3]

भगवान् पार्श्वनाथ ने भोग्य कर्मों के फल भोगों को क्षीण समझकर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया उस समय लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर प्रार्थना की—"भगवान्! धर्मतीर्थ को प्रकट करें।" तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग में देवों, असुरों एवं मानवों के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान में पहुंचकर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहां भगवान् ने अपने ही हाथों आभूषणादि उतार कर पंचमुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास अष्टमतप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषों के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य त्याग रूप मुनिधर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया।[4] कोपकटक ग्राम के धन्य नामक एक गृहस्थ के यहां खीर से प्रभु

१. वही, पृ० १५८-१५९
२. कल्पसूत्र- १५३ पृ० २१९
३. (१) भगवान् पार्श्व : एक समी० अध्य०; पृ० ९५
   (२) तत्वार्थ सूत्र, १।११ से १३
४. (१) ऐति० के तीन तीर्थंकर पृ० १५९, (२) चउ
   (३) त्रिषष्टि., ९।३; (४) कल्पसूत्र, १५३ पृ० २
   (५) समवायांग, स० १५६ पृ० १४७ कमल

का पारणा हुआ।[1] देवों ने पंच दिव्य की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। उत्तरपुराण में गुल्मखेट नगर के राजा धन्य के यहां अष्टम तप का पारणा करने का उल्लेख है।[2]

अभिग्रह :

दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत भगवान् ने यह अभिग्रह किया—"तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थकाल का मेरा साधना समय है, उस पूरे समय में शरीर से ममत्व हटाकर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूंगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग होंगे उनको अविचल भाव से सहन करता रहूंगा।[3]

विहार एवं उपसर्ग[4] :

दीक्षा के उपरांत भगवान् पार्श्वनाथ ने वाराणसी से विहार किया। संयम-साधना, तप-आराधना करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। विहार करते हुए भगवान् कलिगिरि नामक पर्वत के नीचे अवस्थित कादम्बरी नामक वन में गए, सरोवर के पास ध्यानस्थ होकर खड़े हो गये। उस समय वहां घूमता फिरता महीधर नामक हाथी आया। भगवान् को देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान हो आया जिससे वह भगवान् की अर्चना करने लगा। कलि-गिरि कुण्ड सरोवर के पास होने से वह स्थान 'कलिकुण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वहां से भगवान् विहार कर शिवपुरी गये। कौशांवी वन में ध्यानमुद्रा में खड़े थे। उस समय अपने पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र वहां आया। धूप से रक्षा करने के लिये उसने भगवान् पर छत्र किया एतदर्थ उस स्थान का नाम अहिछत्रा पड़ा।

१. त्रिषष्टि., ९।३।४८०
२. उत्तरपुराण ७३।१३२
३. (१) ऐति० के तीन तीर्थंकर, पृ० १५९
   (२) भगवान् पार्श्व : एक सम० अध्य० पृ०, ९७-९८
४. यह सम्पूर्ण विवरण-भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन ९९ से १०३ के आधार पर है।

वहां से भगवान् राजपुर गये वहां ईश्वर नामक राजा उन्हें वन्दन करने के लिये आया और वह स्थान 'कुक्कु-टेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वहां से विहार कर एक नगर के समीप तापसो का आश्रम था, वहां भगवान् पधारे। सूर्यास्त होने से एक कुएं के पास वट वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर खड़े हो गये। कमठ तापस जो मरकर मेघमाली देव बना था। कुअवधि ज्ञान (विभंग ज्ञान) से अपने पूर्व भव को स्मरण कर क्रोध और अहंकार से बेभान बना हुआ जहां भगवान् ध्यानस्थ थे वहां आया। भगवान् को ध्यान से विचलित करने के लिये सिंह, हस्ती, रीछ, सर्प, बिच्छू आदि विविधरूप बनाकर विभिन्न प्रकार के कष्ट देने लगा। एक के बाद एक घनघोर यातनाऐं देने लगा। तथापि भगवान् सुमेरू की भांति स्थिर रहे। अपने अडिग धर्म-ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए तब उसने गंभीर गर्जना कर अपार वृष्टि की। नाक तक पानी आजाने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ। उस समय अवधिज्ञान से धरणेन्द्र ने मेघमाली के उपसर्ग को देखा, उसी समय वह वहां आया और सात फनों का छत्र बनाकर उपसर्ग का निवारण किया।

भक्ति भावना से गद्‌गद् होकर उसने भगवान् की स्तुति की। ध्यानमग्न समदर्शी भगवान् न तो स्तुति करने वाले धरणेन्द्र देव पर तुष्ट हुए और न उपसर्ग करने वाले दुष्ट कमठ पर ही रुष्ट हुए।

धरणेन्द्र के भय से भयभीत और पराजित होकर मेघमाली प्रभु के चरणों में आकर गिरा और अपने अपराध की क्षमा याचना करने लगा।

इस प्रकार प्रस्तुत उपसर्ग का वर्णन सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथों में प्राप्त होता है किन्तु उन ग्रन्थों में विघ्न उपस्थित करने वाले के नाम में अन्तर है। चउपन्न महापुरिसचरियं, सिरिपासणाह चरियं, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पासणाह चरिउ, आदि ग्रंथों में विघ्नकर्ता का नाम मेघमालिन दिया है। उत्तरपुराण, महापुराण, रइधुकृत पासचरिय आदि में विघ्नकर्ता का नाम शम्बर है। वादिराज ने श्री पार्श्वनाथ चरित्र में उसका नाम भूतानन्द लिखा है। यद्यपि मूल कल्पसूत्र, उसकी चूर्णि और निर्युक्ति में उपसर्ग उपस्थित होने का कोई वर्णन नहीं है किन्तु सभी टीकाकारों ने उसका रोचक वर्णन किया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी कल्याण मंदिर स्त्रोत में कमठ के द्वारा किये गये उपसर्ग का उल्लेख किया है।

प्रायः सभी ग्रन्थों में उपसर्ग के निवारण हेतु धरणेन्द्र नागराज का उल्लेख किया गया है और उसे नाग का जीव माना है जिसे पार्श्वनाथ ने नवकार महामंत्र सुनवाया था।

दिगम्बराचार्य गुणभद्र ने उपसर्ग का नाम दीक्षावन दिया है, जिस स्थान पर भगवान् पार्श्वनाथ ने दीक्षा ग्रहण की थी। उसी स्थल पर चार माह के पश्चात् जब भगवान् पुनः पधारते हैं तब शम्बर नामक देव ने उनको सात दिन तक भयंकर उपसर्ग दिये। किन्तु देवभद्राचार्य, हेमचन्द्राचार्य, हेमविजयगणी, उदयवीरगणी आदि श्वेताम्बर विज्ञों ने उपसर्ग का स्थल आश्रम बताया है।

केवलज्ञान :

दीक्षोपरांत तिरासी दिन तक भगवान् इस प्रकार अनेक परीषहों और उपसर्गों को क्षमा व समता की प्रबल भावना के साथ सहन करते रहे एवं छद्मस्थावस्था में विचरण करते रहे। इस अवधि में भगवान् ने अनेक कठोर तप एवं उच्च आराधनाएँ की। अन्ततः चौरासिवें दिन वे वाराणसी के उसी आश्रमपद उद्यान में लौट आये जहां उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वहां पहुंचकर घातकी वृक्ष के नीचे भगवान् ध्यानावस्थित हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण में प्रवेश कर भगवान् ने घातिकर्मों का क्षय कर दिया। भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी के विशाखा नक्षत्र का शुभ योग था।[1]

देव-देवेन्द्रों को भगवान् की केवलज्ञान प्राप्ति की तत्काल सूचना हो गई। वे भगवान् की सेवा में वन्दनार्थ उपस्थित हुए और उन्होंने केवलज्ञान की महिमा का पुनः प्रतिपादन किया। सभी लोकों में एक प्रखर प्रकाश व्याप्त हो गया।

भगवान् का प्रथम समवसरण आयोजित हुआ। उनकी अमूल्यवाणी से लाभान्वित होने को देव-मनुजों का अपार समूह एकत्रित हुआ। माता-पिता और पत्नी को भगवान् के केवली हो जाने की सूचना से अपार हर्ष हुआ। समस्त राज-परिवार भी भगवान् की चरण वन्दना हेतु उपस्थित हुआ। नवीन गरिमा-मंडित भव्य व्यक्तित्व के स्वामी भगवान् को शान्त मुद्रा में विराजित

१. **चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ. १२८**

देखकर प्रभावती की आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। भगवान् तो ऐसे विरक्त थे, जिनके लिये समस्त प्राणी ही मित्र थे और उनमें से कोई भी विशिष्ट स्थान नहीं रखता था। प्रभु ने अपने प्रथम धर्मोपदेश में इन्द्रियों के दमन और सर्वकषायों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी। कषायों से उत्पन्न होने वाले कुपरिणामों की व्याख्या करते हुए भगवान् ने धर्म-साधना की महत्ता का प्रतिपादन किया। धर्म-साधना ही कर्म-बन्धनों को काट सकती है। सभी के लिये धर्म की आराधना अपेक्षित है और धर्महीनता से जीवन में एक महा-शून्य निर्मित हो जाता है।[1]

भगवान् के इस अनुपम और प्रभावपूर्ण तथा प्रेरक उद्‌बोधन से हजारों नर-नारी सजग हो गए। अनेकों ने समता, क्षमा और शांति की साधना का व्रत लिया। महाराज अश्वसेन तो विरक्त ही हो गये। अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। माता वामा देवी और पत्नी प्रभा-वती भी दीक्षित हो गईं। अन्य हजारों लोगों को आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा मिली। इस प्रकार भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर की गरिमा से सम्पन्न हुए।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों का मुख्य आधार चातुर्याम संवर धर्म था। उसी मूल बिन्दु का विस्तार अनेक प्रवचनों में हुआ किन्तु आज कोई भी ग्रंथ उनके प्रवचनों का, उपदेशों का संदर्शन कराने वाला प्राप्त नहीं है।[3] अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखना संभव नहीं है।

धर्म-परिवार :

गधणर एवं गण	—	शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	—	१०००

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. १२८-१२९
२. (१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. १२९
 (२) कल्पसूत्र, १५५ पृ. २२२
 (३) आव. नि. गा., २७५ पृ. २०७
 (४) चउपन्न., २६९
 (५) त्रिषष्टि., ९।३
३. भगवान् पार्श्व : एक समीक्षा. अध्य., पृ. ११४

मनःपर्यवज्ञानी	—	७५०
अवधिज्ञानी	—	१४००
चौदह पूर्वधारी	—	३५०
वादी	—	६००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—	१२००
साधु—आर्यदिन्न आदि	—	१६०००
साध्वी—पुष्पचूला आदि	—	३८०००
श्रावक—सुनन्द आदि	—	१६४०००
श्राविका—नन्दिनी आदि	—	३२७०००

परिनिर्वाण :

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलीचर्या से विचरकर भगवान् अपने आयु-काल के निकट वाराणसी से आमलकप्पा[1] होकर सम्मेद्शिखर पर पधारे और तैंतीस मुनियों के साथ एक मास का अनशन व्रत ग्रहण कर शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का आरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखानक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर योग मुद्रा में खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती तीर्थंकर अरिष्टनेमि और उत्तरवर्ती तीर्थंकर महावीर दोनों ने ही अहिंसा के सम्बन्ध में क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया है और युग की कुछ धार्मिक मान्यताओं में संशोधन परिवर्तन भी। श्रीकृष्ण जिस घोर अंगीरस से अध्यात्म एवं अहिंसा की शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे तत्वज्ञ महात्मा अरिष्टनेमि थे— ऐसा इतिहासकारों का मत है। भगवान् महावीर तो निःसंदेह ही अहिंसा के महान उद्घोषक मान लिये गये हैं। इन दोनों विचारधाराओं का मध्य बिन्दु भगवान् पार्श्वनाश ही बनते हैं। वे अहिंसा के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही क्रांतिकारी विचार रखते हैं और गृहस्थ जीवन में

१. सिरिणाह चरियं, ५।४८१ व ४८५
२. ऐति. के तीन तीर्थंकर, पृ. १६६

भी कमठ तापस के प्रसंग पर धर्म-क्रांति का सौम्य स्वर दृढ़ता के साथ मुख-रित करते हैं। तीर्थंकरों के जीवन में इस प्रकार की धर्म-क्रांति की वात गृह-स्थ जीवन में केवल पार्श्वनाथ द्वारा ही प्रस्तुत होती है। दीक्षा के वाद भी वह अनार्य देशों में भ्रमण करके अनेक हिंसक व्यक्तियों के मन में अहिंसा के प्रति श्रद्धा जागृत करने में सफल होते हैं।[1]

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ हमारे समक्ष एक केन्द्र विन्दु के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

[1] भगवान् पार्श्व : एक समी. अध्य., पृ. १६३

२५. विश्वज्योति भगवान् महावीरस्वामी

(चिह्न-सिंह)

वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौवीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी हुए। तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्षों पश्चात् और ईसा पूर्व छठी शती में आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर स्वामी ने इस भारत भूमि पर अवतरित होकर दिग्भ्रान्त जनमानस को कल्याण मार्ग बतलाया था।

भगवान् महावीर स्वामी के जन्म से पूर्व भारतवर्ष की स्थिति अति-दयनीय थी। धर्म के नाम पर अनेक विवेकहीन क्रियाकाण्ड आरम्भ हो चुके थे। वर्ण-व्यवस्था इतनी विकृत हो चुकी थी कि अपने आपको उच्च वर्ण का मानने वाले दूसरे वर्ण के व्यक्तियों को हीन समझते थे। ब्राह्मणों का चारों ओर बोलबाला था। यज्ञ के नाम पर अनेक प्रकार की हिंसाएँ हो रहीं थीं। वैचारिक शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती चली जा रही थी। पाखण्ड, ढोंग और बाह्याडम्बर बढ़ता ही जा रहा था। गुण-पूजा का स्थान व्यक्ति-पूजा ने ग्रहण कर लिया था। स्त्री तथा शूद्रों को अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। स्त्री को अबला मानकर उस पर मनमाने अत्याचार हो रहे थे। उन्हें न तो धार्मिक और न ही सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता थी। शूद्र सेवा का पवित्र कार्य करते थे फिर भी उन्हें दीन-हीन समझा जाता था। उन पर असीम अत्याचार होते थे। यदि भूल से भी कोई स्त्री या शूद्र वेदमन्त्र सुन लेता था तो उसके कानों में गर्म शीशा भरवा दिया जाता था। यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ की २५० वर्ष पुरानी परम्परा उस समय किसी न किसी प्रकार चल रही थी किन्तु कुशल एवं सशक्त नेतृत्व के अभाव में उसमें तत्कालीन हिंसा-काण्ड का विरोध करने की क्षमता नहीं थी। स्वयं उस परम्परा के अनुयायी भी अपने कर्त्तव्यपालन में शिथिल हो गये थे।

ऐसी विषम परिस्थितियों में जन्म लेकर भगवान् महावीर स्वामी ने सच्चे धर्म की स्थापना की। जिसके लिये उन्होंने घोरातिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढ़ता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहनकर भगवान् महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया। वे एक महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रांतिकारी सुधारक, सच्चे पथप्रदर्शक, विश्ववंधुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणि-मात्र के परम प्रिय हितचिंतक भी थे।1

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं" (अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता है) (दशवै. ६।१६) इस दिव्य घोष के साथ उन्होंने न केवल मानव समाज को अपितु पशुओं तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्म के नाम पर यज्ञों में खुले आम दी जाने वाली क्रूर पशुबलि के विरूद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होंने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्त प्रायः कर असंख्य प्राणियों को अभयदान दिया।2

यही नहीं भगवान् महावीर ने रूढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्ण भेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होंने प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव हृदयों में अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समाजवाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखाकर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।3

प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की सम्भावना से युक्त होता है। विशेष-कोटि की उपलब्धियों के आधार पर ही उसे यह गरिमा प्राप्त होती है और ये उप-

१. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ० १६७
२. वही, पृष्ठ १६७
३. वही. पृ० १६७

२५. विश्वज्योति भगवान् महावीरस्वामी

(चिह्न-सिंह)

वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी हुए। तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्षों पश्चात् और ईसा पूर्व छठी शती में आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर स्वामी ने इस भारत भूमि पर अवतरित होकर दिग्भ्रान्त जनमानस को कल्याण मार्ग बतलाया था।

भगवान् महावीर स्वामी के जन्म से पूर्व भारतवर्ष की स्थिति अति-दयनीय थी। धर्म के नाम पर अनेक विवेकहीन क्रियाकाण्ड आरम्भ हो चुके थे। वर्ण-व्यवस्था इतनी विकृत हो चुकी थी कि अपने आपको उच्च वर्ण का मानने वाले दूसरे वर्ण के व्यक्तियों को हीन समझते थे। ब्राह्मणों का चारों ओर बोलबाला था। यज्ञ के नाम पर अनेक प्रकार की हिंसाएँ हो रही थीं। वैचारिक शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती चली जा रही थी। पाखण्ड, ढोंग और बाह्याडम्बर बढ़ता ही जा रहा था। गुण-पूजा का स्थान व्यक्ति-पूजा ने ग्रहण कर लिया था। स्त्री तथा शूद्रों को अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। स्त्री को अबला मानकर उस पर मनमाने अत्याचार हो रहे थे। उन्हें न तो धार्मिक और न ही सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता थी। शूद्र सेवा का पवित्र कार्य करते थे फिर भी उन्हें दीन-हीन समझा जाता था। उन पर असीम अत्याचार होते थे। यदि भूल से भी कोई स्त्री या शूद्र वेदमन्त्र सुन लेता था तो उसके कानों में गर्म शीशा भरवा दिया जाता था। यद्यपि भगवान् पार्श्वनाथ की २५० वर्ष पुरानी परम्परा उस समय किसी न किसी प्रकार चल रही थी किन्तु कुशल एवं सशक्त नेतृत्व के अभाव में उसमें तत्कालीन हिंसा-काण्ड का विरोध करने की क्षमता नहीं थी। स्वयं उस परम्परा के अनुयायी भी अपने कर्त्तव्यपालन में शिथिल हो गये थे।

ऐसी विषम परिस्थितियों में जन्म लेकर भगवान् महावीर स्वामी ने सच्चे धर्म की स्थापना की। जिसके लिये उन्होंने घोरातिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरूतुल्य अविचल दृढ़ता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहनकर भगवान् महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया। वे एक महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रांतिकारी सुधारक, सच्चे पथप्रदर्शक, विश्वबंधुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणि-मात्र के परम प्रिय हितचिंतक भी थे।१

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं" (अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता है) (दशवै. ६।१६) इस दिव्य घोष के साथ उन्होंने न केवल मानव समाज को अपितु पशुओं तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्म के नाम पर यज्ञों में खुले आम दी जाने वाली क्रूर पशुबलि के विरूद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होंने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्त प्रायः कर असंख्य प्राणियों को अभयदान दिया।2

यही नहीं भगवान् महावीर ने रूढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्ण भेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होंने प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव हृदयों में अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समाजवाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखाकर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।3

प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की सम्भावना से युक्त होता है। विशेष-कोटि की उपलब्धियों के आधार पर ही उसे यह गरिमा प्राप्त होती है और ये उप-

१. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर —
२. वही, पृष्ठ १६७
३. वही. पृ० १६७

लब्धियाँ किसी एक ही जन्म की अर्जनाएँ न होकर जन्म-जन्मान्तरों के सुकर्मों और सुसंस्कारों के समुच्चय का रूप होती है। भगवान् महावीर भी इस सिद्धांत के अपवाद नहीं थे। जब उनका जीव अनेक पूर्व जन्मों के पूर्व नयसार के भव में था, तभी श्रेष्ठ संस्कारों का अंकुरण उनमें हो गया था।[1]

पूर्वभव :

भगवान् महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख श्वेताम्बर एवं दिगम्बर इन दोनों ही परम्पराओं में मिलता है। अन्तर यह है कि श्वेताम्बर परम्परा[2] में भगवान् के सत्ताइस पूर्वभवों का और दिगम्बर परम्परा[3] में तैंतीस पूर्वभवों का विवरण मिलता है। सर्वसामान्य की जानकारी के लिये भगवान् के भवों की जानकारी निम्नानुसार है :—

श्वेताम्बर परम्परा	दिगम्बर परम्परा
१. नयसारगाम चिन्तक	१. पुरूरवा भील
२. सौधर्म देव	२. सौधर्म देव
३. मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्मस्वर्ग का देव	४. ब्रह्मस्वर्ग का देव
५. कौशिक ब्राह्मण (अनेकभव)	५. जटिल ब्राह्मण
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण	६. सौधर्म स्वर्ग का देव
७. सौधर्म देव	७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. अग्निद्योत	८. सौधर्म स्वर्ग का देव
९. द्वितीय कल्प का देव	९. अग्निसह ब्राह्मण
१०. अग्निभूत ब्राह्मण	१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
११. सनत्कुमार देव	११. अग्निमित्र ब्राह्मण
१२. भारद्वाज	१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१३. महेन्द्र कल्प का देव	१३. भारद्वाज ब्राह्मण

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ० १३१-३२

२. त्रिषष्टि०, १०।१

३. उत्तरपुराण, पर्व ७४ पृ० ४४४ गुण

१४. स्थावर ब्राह्मण
१५. ब्रह्मकल्प का देव
१६. विश्वभूति
१७. महाशुक्र का देव
१८. त्रिपृष्ठ नारायण
१९. सातवीं नरक
२०. सिंह
२१. चतुर्थ नरक (अनेक भव)
२२. पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती
२३. महाशुक्र कल्प का देव
२४. नन्दन
२५. प्राणत देवलोक
२६. देवानन्दा के गर्भ में
२७. त्रिशला की कुक्षि में
भगवान् महावीर

१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव त्रय
स्थावर योनि के असंख्य भव
१५. स्थावर ब्राह्मण
१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१७. विश्वनन्दी
१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सातवीं नरक का नारकी
२१. सिंह
२२. प्रथम नरक का नारकी
२३. सिंह
२४. प्रथम स्वर्ग का देव
२५. कनकोज्वल राजा
२६. लान्तक स्वर्ग का देव
२७. हरिषेण राजा
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्त्रार स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा
३२. अच्युत स्वर्ग का देव
३३. भगवान् महावीर

ऊपर भगवान् महावीर के जिन भवों का नामोल्लेख किया गया है, उनमें भी दोनों परम्परानुसार एक समान क्रम नहीं है। इनके अतिरिक्त भी भगवान् महावीर ने और अनेकानेक भवों में जन्म लिया। इन सबसे यह तो सहज ही प्रमाणित हो जाता है कि भगवान् महावीर का तीर्थंकर के रूप में अवतरण अनेकों जन्मों के सुकर्मों का प्रतिफल है।

भगवान् महावीर ने नन्दन भव में तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया और

मासिक संलेखना करके आयु पूर्ण किया।[1] इसके बाद उनका जीव प्राणत-देवलोक के पुष्पोत्तरावतंसक विमान में बीस सागर की स्थिति वाला देव हुआ।[2]

जन्म माता-पिता :

ब्राह्मण कुण्ड ग्राम में एक सदाचारी ब्राह्मण ऋषभदत्त रहता था। उसकी पत्नी का नाम देवानन्दा था। प्राणत-देवलोक की अवधि पूर्ण कर नयसार का जीव वहां से चलकर ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आषाढ़ शुक्ला ६ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग से स्थिर हो गया। उसी रात को देवानन्दा ने चौदह महा-फलदायी स्वप्न देखे और उनकी चर्चा ऋषभदत्त से की। स्वप्नफल पर विचार करने के उपरान्त उसने कहा कि देवानन्दा तुझे पुण्यशाली, लोक पूज्य, विद्वान और महान् पराक्रमी पुत्ररत्न की प्राप्ति होने वाली है। यह सुनकर देवानंदा आनन्दविभोर हो गई और पूर्ण सावधानीपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी।

देवाधिप शकेन्द्र ने अपने अवधि ज्ञान से यह ज्ञात कर लिया कि भगवान् महावीर ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में अवस्थित हो चुके हैं तो उन्होंने आसन से उठकर भगवान् की वन्दना की। तदुपरांत इन्द्र के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि परम्परानुसार तीर्थंकरों का जन्म पराक्रमी और उच्चवंशों में ही होता रहा है, उन्होंने कभी भी क्षत्रियेत्तर कुल में जन्म नहीं लिया। भगवान् महावीर ने ब्राह्मणी देवानंदा के गर्भ में जन्म लिया यह एक आश्चर्यजनक तो है ही, अनहोनी बात भी है। इन्द्र ने निर्णय लिया कि ब्राह्मण कुल से निकालकर मैं उनका संहरण उच्च और प्रतापी वंश में कराऊं। यह विचार कर इन्द्र ने हरिणेगमेषी को आदेश दिया कि भगवान् को देवानन्दा के गर्भ से निकालकर राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी के गर्भ में संहरण किया जावे।

उस समय रानी त्रिशलादेवी भी गर्भवती थी। हरिणेगमेषी ने अत्यन्त कौशल के साथ दोनों के गर्भों में पारस्परिक परिवर्तन कर दिया। उस समय तक भगवान् ने देवानन्दा के गर्भ में ८२ रात्रियों का समय व्यतीत कर लिया

१. (१) आव० चूर्णि०, २३५, (२) त्रिषष्टि., १०।१।२२६
२. आव० चू०, २३५

था और उन्हें तीन ज्ञान तो प्राप्त ही थे। वह आश्विनकृष्णा त्रयोदशी की रात्रि थी। गर्भ परिवर्तन की यह घटना जैन इतिहास में एक महान् आश्चर्य मानी गई है।

गर्भ हरण वाली रात्रि में देवानन्दा ने स्वप्न देखा कि जो चौदह शुभ स्वप्न वह पूर्व में देख चुकी थी, वे सभी उसके मुखमार्ग से बाहर निकल गये हैं। उसे अनुभव होने लगा कि जैसे उसके शुभ गर्भ का हरण हो गया है और ऐसा अनुभव होने पर वह अत्यधिक दुःखी हुई।[1]

भगवान् महावीरस्वामी का रानी त्रिशला के गर्भ में साहरण होते ही उसने चौदह महान मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे। जब यह विदित हुआ कि ऐसे दिव्य-स्वप्नों का दर्शन करने वाली माता तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे भाग्यवान् पुत्र को जन्म देती हैं तो न केवल वह हर्ष विभोर हुई वरन् समस्त राज-परिवार में प्रसन्नता की लहर व्याप्त हो गई।

गर्भकाल में अभिग्रह :

गर्भ में शिशु गतिशील रहता है और गर्भस्थ भगवान् महावीर स्वामी के लिये भी यह स्वाभाविक ही था। किन्तु एक दिन उन्हें विचार आया कि मेरे इस प्रकार गतिशील रहने से माता को कष्ट होता है। बस ! यह विचार आते ही उन्होंने अपनी गति स्थगित कर दी। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया उलटी हुई। गर्भ की स्थिरता और अचंचलता देखकर माता त्रिशला देवी चिंतित हो उठी कि या तो मेरे गर्भ का ह्रास हो गया है अथवा उसका हरण हो गया है। मात्र इस कल्पना से ही माता त्रिशला देवी घोर दुःखी हो गई। इस सर्वथा

१. पूर्वभव में देवानंदा, त्रिशला की जेठानी थी। एक बार देवानंदा ने अपनी देवरानी त्रिशला का रत्नजटित आभूषणों का डिब्बा चुरा लिया था। त्रिशला ने उसे बहुत समझाया था किन्तु फिर भी उसने स्वीकार नहीं किया कि उसने आभूषण चुराये हैं। त्रिशला ने तो उसे क्षमा कर दिया किन्तु देवानंदा को कपटपूर्ण व्यवहार का फल इस प्रकार मिला।

देखें :- भगवान् महावीर का आदर्श जीवन,-जैन दिवाकर मुनिश्री चौथ- मल जी म० पृ० १००

अप्रत्याशित नई स्थिति से सम्पूर्ण राजपरिवार में भी शोक व्याप्त हो गया। अवधिज्ञान से भगवान् महावीर सभी बातों को जान गये और वे पुनः गतिशील हो गये। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि ममतामय माता-पिता के लिये अब मैं कष्ट का कारण नहीं बनूंगा। गर्भस्थावस्था में ही भगवान् ने संकल्प ले लिया। इसके साथ ही भगवान् महावीर ने यह संकल्प भी गर्भकाल में ही ले लिया कि मैं माता-पिता के जीवनकाल में दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा।

भगवान् के गर्भ में गतिशील होने से माता को गर्भ की कुशलता का निश्चय हो गया और पुनः सर्वत्र हर्ष की लहर फैल गई। माता प्रसन्न मन से और अधिक संयमपूर्ण आहार-विहार के साथ गर्भ का पालन करने लगी। नौ मास और साढ़े सात दिन पूरे होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की अर्द्ध रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में (३० मार्च ५९९ ई०पू०) त्रिशला देवी ने एक परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। नवजात शिशु एक सहस्त्र आठ लक्षणों और कुन्दनवर्णी शरीर वाला था। भगवान् के जन्म से तीनों लोकों में अनुपम आभा फैल गई और घोर यातनाओं को सहने वाले नारकीय जीवों को भी क्षणभर के लिये सुखानुभूति हुई। ६४ इन्द्रों ने मेरूपर्वत पर भगवान् का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। भगवान् के जन्म के प्रभाव से ही सम्पूर्ण राज्य में श्री समृद्धि होने लगी।

पुत्र जन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के बंदियों को कारागार से मुक्त किया याचकों और सेवकों को मुक्तहस्त से प्रीतिदान दिया। दस दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया गया। समस्त नगर में बहुत दिनों तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।[1]

१. जन्म एवं माता-पिता विषय जानकारी के लिये देखें :–
(१) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ. १३३ से १३५
(२) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर. पृ. २०५ से २१४
(३) भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ. १९७ से १९९ एवं २१९ से २२३ इसके अतिरिक्त :–
(१) त्रिषष्टि शलाका पुरूष चरित, पर्व १० एवं अन्य।
(२) कल्पसूत्र (३) आ चूर्णि, (४) चउपन्न महा.,
(५) महावीर चरित्रं–गुणचन्द्र (६) रांग सूत्र आदि आदि

नामकरण :

दश दिनों तक जन्म–महोत्सव मनाये जाने के बाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रों और बन्धुजनों को आमंत्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उनका सत्कार करते हुए कहा, "जबसे यह शिशु हमारे कुल में आया है तब से धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, अतः मेरी सम्मति में इसका 'वर्द्धमान' नाम रखना उपयुक्त जंचता है।" उपस्थित लोगों ने राजा की इच्छा का समर्थन किया। फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया। आपके बाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवों ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा।[1]

श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने नामकरण का विशद विश्लेषण अपने ग्रंथ 'भगवान् महावीर : एक अनुशीलन' में किया है। अपने विश्लेषण के अंत में उन्होंने भगवान् के निम्नांकित नाम बताये हैं–(१) वर्द्धमान (२) महावीर, (३) सन्मति, (४) काश्यप (अंत्यकाश्यप), (५) ज्ञातपुत्र (नातपुत्र), (६) विदेह, और (७) वैशालिक।

यह स्पष्ट है कि उनको गृहस्थावस्था में प्रायः 'वर्द्धमान' नाम से ही पुकारा गया है। महावीर नाम बाद में पड़ा तथा अन्य नाम साहित्यकारों द्वारा दिये गये।[2]

माता-पिता की ख्याति :[3]

भगवान् महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था, उनका अमर नाम 'श्रेयांस' और 'यशस्वी' भी था। भगवान् महावीर की माता का नाम 'त्रिशला' था। उनका अपरनाम 'विदेहदिण्णा' और 'प्रियकारिणी' था वे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। उनके लिये राजा और नरेन्द्र शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनके गणनायक, दण्डनायक, युवराज, तलधर, मांडबिक,

१. (१) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ. २१८
   (२) कल्प सूत्र, सूत्र १०३, १०४
२. भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २५८
३. वही०पृ० २३६-२३७

कौटुम्बिक, मंत्री महामंत्री, गणक, दौवारिक, अमात्य, चेट, पीठमर्दक नागर, निगम, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत, संधिपाल आदि पदाधिकारी थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्धार्थ एक राजा था। तथापि डाक्टर हार्नले[1] और जैकोबी[2] ने अपने लेखों में सिद्धार्थ को राजा न मानकर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार माना है, जो आगम सम्मत नहीं है क्योंकि आचारांग और कल्पसूत्र में स्थान स्थान पर 'सिद्धत्थे खत्तिए' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसके कारण उनको यह भ्रम हो गया है किन्तु 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ साधारण क्षत्रिय के अतिरिक्त 'राजा' भी होता है। अभिधान चिन्तामणि में कहा है- 'क्षत्रिय, क्षत्र आदि शब्दों का प्रयोग राजा के लिये भी होता है।[2] प्रवचन-सारोद्धार में 'महसेणेय खत्तिए' शब्द आया है। वहां टीकाकार ने क्षत्रिय का अर्थ राजा किया है।

पूर्व मीमांसा-सूत्र (द्वितीय भाग) की टीका में शबर स्वामी लिखते हैं- 'राजा तथा क्षत्रिय शब्द समानार्थी है। टीकाकार के समय में भी आंध्र के लोग क्षत्रिय के लिये 'राजा' शब्द का प्रयोग करते थे।

सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय नहीं किन्तु राजा थे। उनके लिये नरेन्द्र शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन साहित्य में नरेन्द्र शब्द का प्रयोग राजा के लिये ही होता था। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय होता तो क्या वैशाली का महान् प्रतापी चेटक जो काशी, कौशल के अठारह गण-राजाओं का अध्यक्ष था, अपनी बहन त्रिशला का विवाह साधारण क्षत्रिय के साथ करता? इससे स्पष्ट है कि त्रिशला साधारण क्षत्रियाणी नहीं एक महारानी थी और उसका जन्म वंश गौरवशाली था।

यह भी सत्य है कि राजा सिद्धार्थ चेटक की तरह बड़े राजा नहीं थे तथापि वे एक प्रमुख राजा थे, इसमें दो मत नहीं हैं और विदेह देश के राजवंशों में उनका काफी सम्मान और प्रभाव था।

१. जैन साहित्य संशोधक, १।४ पृ० २१६
२. वही, पृ० ७१
३. क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवतः।
—अभि० चिंता० ३ लोक ५२७

बाल्यकाल :

भगवान् महावीर का लालन-पालन उच्च एवं पवित्र संस्कारों के भव्य वातावरण में हुआ। इनकी सेवादि के लिये पांच परमदक्ष धाइयां नियुक्त की गई, जो अपने अपने कार्य को यथासमय विधिवत् संचालन करतीं। उन पांचों के कार्य अलग अलग थे। यथा—दूध-पिलाना, स्नान कराना, वस्त्रादि पहनाना, क्रीड़ा कराना और गोद में खिलाना।

महावीर स्वामी की बचपन की क्रीड़ाएँ केवल मनोरंजन के लिये ही न होकर शिक्षाप्रद एवं बलवर्द्धक भी होती थीं। जैसे :–

(१) आमल की क्रीड़ा :

इस खेल के नामों में भिन्नता मिलती है। आचार्य हेमचंद्र[1] ने इसे आमल की क्रीड़ा कहा है तो आचार्य शीलांक[2] इसे आमलयखेड़ कहा है। जिनदासगणी[3] महत्तर ने इसे सुंकलिकडएण नाम दिया है।

भगवान् जब लगभग आठ वर्ष की आयु के थे उस समय उनमें साहस और निर्भयता के दर्शन होते हैं। उनकी इस निर्भयता को देखकर एक बार देवपति शंकु ने देवताओं के समक्ष भगवान् के गुणों की प्रशंसा कर दी। इस पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ। वह परीक्षा के लिये उस क्रीड़ांगण में आया जहां भगवान् महावीर आमल की क्रीड़ा या सुंकुली खेल खेल रहे थे।

इस खेल में एक वृक्ष को लक्ष बनाकर समस्त बालक दूसरी ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़कर उतर जाता है, वह विजयी माना जाता है। विजयी बालक पराजित बालक के कंधे पर बैठकर उस स्थान पर जाता है जहां से दौड़ प्रारम्भ हुई थी।

जो देव परीक्षा लेने-आया था, उसने एक भयानक विषधर का रूप बनाया और उस वृक्ष से लिपट गया। भगवान् महावीर उस समय वृक्ष पर ही थे। उस

१. त्रिषष्टि., १०।२।१०६
२. चउपन्न. २७१
३. आव. चू., पृ. २४६

भयंकर विषधर को देखकर अन्य बालक इधर-उधर भाग खड़े हुए किन्तु भगवान् महावीर अविचलित ही बने रहे। यहां तक कि उन्होंने अपने भागने वाले साथियों से कहा कि तुम लोग क्यों भागते हो ? यह क्षुद्र प्राणी क्या बिगाड़ सकता है, इसके तो एक ही मुंह है, हमारे पास दो हाथ, दो पांव, एक मुख, मस्तिष्क एवं बुद्धि है। आओ इसे पकड़कर दूर फेंक दें।

भगवान् का ऐसा कथन सुनकर सभी बालक एक साथ कह उठे कि ऐसी गलती मत करना। इसके छूना मत। इसके काटने से आदमी मर जाता है। इतना कहकर सब बालक वहां से भाग गये। भगवान् महावीर ने निःशंक भाव से सर्प को पकड़ा और एक रस्सी की भांति उठाकर एक ओर रख दिया। इस पर जो बालक भाग गये थे वे पुनः आ गये।[1]

तिन्दूषक :

महावीर द्वारा सर्प को हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहां आ गये और तिन्दूषक खेल खेलने लगे। यह खेल दो दो बालकों के जोड़े बनाकर खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते हैं और दोनों में से जो बालक वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता हैं। इस खेल में विजयी बालक पराजित बालक पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।[2] परीक्षक देव भी बालक का रूप बनाकर खेल की टोली में सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड़ में पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप में उपस्थित होना पड़ा। महावीर उस पर आरूढ़ होकर नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और अपहरण करने के लिये सात ताड़ के बराबर ऊंचा और भयावह शरीर बनाकर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देखकर सभी बालक घबरा गये। परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय बने रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वंचना करना चाहता है। ऐसा सोचकर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि

१. (१) चूर्णि, पृ० २४६ पूर्वभाग
(२) त्रिषष्टि०, १०।२।१०३-१०७, (३) चउपन्न०, पृ० २७१
२. तस्स तेसू रुक्खेसु जो पढ़मं „विलग्गत्ति, जो पढ़मं ओलुगति सो चेड़ रूवाणि वाहेति ॥ आव० चू०, भा० १ पत्र २४६

देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की भांति उसका फूला हुआ शरीर दबकर वामन हो गया। उस देव का मिथ्याभिमान चूर चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा—"वर्द्धमान! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव में आप वीर ही नहीं, महावीर हैं।" इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बचपन से ही अनुपम थी।१

भगवान् महावीर अतुल बल के स्वामी थे। उनके बल की तुलना किसी के बल से नहीं की जा सकती। देव व इन्द्रों को भी वे इसीलिये पराजित कर देते हैं कि तन बल के साथ ही उनमें अतुल आत्म-बल होता है।

विद्याभ्यास :

तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होते हैं और कहीं से उन्हें औपचारिक रूप से ज्ञान-प्राप्ति की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु लोक प्रचलन के अनुसार उन्हें भी कलाचार्य की पाठशाला में विद्याध्ययन के लिये भेजा गया। गुरूजी बालक के बुद्धि-वैभव से बड़े प्रभावित थे। कभी कभी तो वर्द्धमान की ऐसी ऐसी जिज्ञासाएं होतीं, जिनका समाधान वे खोज नहीं पाते। एक समय एक विप्र इस पाठशाला में आया और गुरुजी से एक के पश्चात् एक प्रश्न करने लगा। प्रश्न इतने जटिल थे कि आचार्य के पास उनका कोई उत्तर नहीं था। बड़ी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। बालक वर्द्धमान ने गुरुजी से सविनय अनुमति मांगी और विप्र के प्रत्येक प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दे दिया। कलाचार्य ने स्वीकार किया कि वर्द्धमान परम बुद्धिशाली है—मेरा भी गुरु होने की योग्यता इसमें है। यह विप्रवेशधारी स्वयं इन्द्र था, जिसने कलाचार्य से सहमत होते हुए अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि यह साधारण शिक्षा वर्द्धमान के लिये कोई महत्व नहीं रखती। ऐसे अनेक प्रसंग वर्धमान के बाल्यकाल में ही आये, जिनसे उनके अद्भुत बुद्धि चमत्कार का परिचय

१. (१) ऐति० काल के तीन तीर्थं०, पृ० २१६-२२०
(२) त्रिषष्टि०, १०।२।१११-११७
(३) आव० चू० भा० १ पृ. २४६
(४) आव० मलय०, पृ० २५८

मिलता है और भावी तीर्थंकर को बीज रूप में उपस्थिति का जिनसे आभास हुआ करता था ।१

गृहस्थावस्था :

बाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्धमान युवक हुए तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने इनके मित्रों के माध्यम से विवाह की बात चलाई। राजकुमार वर्धमान सहज विरक्त होने के कारण भोग जीवन जीना नहीं चाहते थे। अतः पहले तो उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया और अपने मित्रों से कहा कि विवाह मोह-बुद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग में रोग का भय भी भूल जाने की वस्तु नहीं है। माता पिता को मेरे वियोग का दुःख न हो इसलिये दीक्षा लेने के लिये उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षित नहीं हो पा रहा हूं।

जिस समय वर्धमान और उनके मित्रों में परस्पर इस प्रकार की बात हो रही थी कि माता त्रिशला देवी वहां आ गई। वर्धमान ने खड़े होकर माता के प्रति आदरभाव प्रकट किया। माता ने कहा "वर्धमान ! मैं जानती हूं कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रबल इच्छा है कि तुम योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततः माता-पिता के आग्रह के सम्मुख वर्धमान महावीर को झुकना पड़ा और वसंतपुर के महासामन्त समरवीर की प्रियपुत्री यशोदा के साथ शुभ मुहूर्त में पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ।

गर्भकाल में ही माता के अत्यधिक स्नेह को देखकर वर्धमान ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नहीं करेंगे।

(१) १. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ०१३७
२. भगवान् महावीर : एक अनु० पृ० २६६-२७०
३. ऐति० तीन तीर्थंकर, पृ० २२०-२२१
४. आव०चू०पृ० २४७, २४८
५. त्रिषष्टि०, १०।२।११९-१२०, १२१-२२
६. महावीर चरियं, गा० ९२-९५ पृ० ३४ नेमिचन्द्र

माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिये वर्द्धमान को विवाह बंधन में बंधना पड़ा।[1] उनके यहां एक पुत्री ने जन्म लिया जिसका नाम प्रियदर्शना था। उसका दूसरा नाम अनवद्या भी बताया जाता है।

दिगम्बर परम्परा भगवान् महावीर के विवाह का समर्थन नहीं करती है। वास्तव में विवाद का कारण कुमार शब्द है। कुमार शब्द का अर्थ, एकावात: कुंआरा– अविवाहित नहीं होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है। इसीलिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छि आभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास में प्रवज्या लेना है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार भगवान् महावीर ने यशोदा के साथ विवाह किया था और दिगम्बर परम्परानुसार वे अविवाहित थे।

माता-पिता का स्वर्गवास :

राजसी भोग के अनुकूल साधन प्राप्त करके भी भगवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार में रहकर भी कमलपत्र की भांति निर्लिप्त थे। उनके संसारवास का प्रमुख कारण था कृत कर्म का उदय भोग और बाह्य कारण था माता-पिता का अपार स्नेह। महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का पालन कर जब अंतिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिये अर्हत् सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिये पश्चाताप किया और दोषों से हटकर यथायोग्य प्रायश्चित स्वीकार किया तथा डाभ के संथारे पर

(१) १. ऐति. काल के तीन तीर्थंकर, पृ. २२१-२२२
२. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ. २७१-२७६
३. त्रिषष्टि. १०।२।१२६-१२७, १३८-१४६
४. चउपन्न पृ० २७२

(२) १. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर पृ० २२३
२. शब्दरत्न सम० कोष० पृ० २६८
३. अभि० चि० काण्ड २ श्लोक २४६ पृ० १३६
४. अमरकोष काण्ड १, नाट्य वर्ग श्लोक १२ पृ० ७५

बैठकर चतुर्विध आहार का त्याग कर, संथारा ग्रहण किया और फिर अपश्चिम मरणांतिक सलेखना से भूषित शरीर वाले काल के समय में काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) में देवरूप से उत्पन्न हुए। वे स्वर्ग से च्यवकर महाविदेह में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।[1]

गृहस्थ-योगी दीक्षा की तैयारी :

माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त दीक्षाव्रत अंगीकार करने की भावना बलवती हो गई। अब उन्हें अपने मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा दिखाई नहीं दे रही थी किन्तु फिर भी उन्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन से अनुमति प्राप्त करनी थी। नन्दिवर्धन अब उनके लिये पिता के समान थे। नन्दिवर्धन का उन पर स्नेह भी अगाध था। भगवान् ने दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ विचार किया और मर्यादा के अनुरूप अपने अग्रज से अनुमति की याचना की। माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण नन्दिवर्धन भी इस समय दुःखी थे। वे अपने आपको अनाश्रित-सा अनुभव कर रहे थे। ऐसी स्थिति में जब महावीर ने दीक्षा की अनुमति मांगी तो उनके हृदय को भीषण आघात लगा। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा कि इस असहाय अवस्था में मुझे तुमसे बड़ा सहारा मिल रहा है। तुम भी यदि मुझे एकाकी छोड़ गये तो मेरा और राज्य का क्या भविष्य होगा ? इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कदाचित् मेरा जीवित रहना ही असम्भव हो जायगा। अभी तुम गृह त्याग मत करो। इसी में हम सबका हित है। इस हार्दिक अभिव्यक्ति ने भगवान् महावीर के निर्मल मन को द्रवित कर दिया और वे अपने आग्रह की पुनरावृत्ति नहीं कर सके। नन्दिवर्धन के अश्रुप्रवाह में वर्धमान की मानसिक दृढ़ता बह निकली और उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम को कुछ समय के लिए स्थगित रखने का निश्चय कर लिया।

ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की इच्छा के अनुरूप महावीर गृहस्थ तो बने रहे, किन्तु उनकी संसार के प्रति उदासीनता और गहरी होती गयी। भगवान् महावीर ने इस समय राजप्रासाद और राजपरिवार में रहते हुए भी एक योगी की भांति जीवन व्यतीत किया और अपनी अद्भुत संयम-गरिमा का परिचय

१. ऐति० काल के तीन तीर्थं०, पृ० २२३

दिया। समस्त उपलब्ध सुख-सुविधाओं के प्रति घोर विकर्षण उनके मन में बना रहा। अद्भुत गृहस्थ योगी का स्वरूप उनके व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर होता था।[1]

अभिनिष्क्रमण :

गृहस्थावस्था में भी त्यागी जीवन व्यतीत करते हुए भगवान् महावीर ने अपने अग्रज नन्दिवर्धन द्वारा निर्धारित अवधि व्यतीत की। समय व्यतीत हो जाने पर भगवान् ने वर्षीदान दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करने लगे। इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख सोने के सिक्कों का दान किया। यह धन शकेन्द्र के आदेश से कुबेर ने जृंभक देवों द्वारा राज्य भण्डार में रखवाया। जो धन पीढ़ियों से भूमि में दबा हुआ हो, जिसका कोई स्वामी नहीं रहा हो, वैसे धन को निकाल कर जृंभक देव लाते हैं और वह जिनेश्वरों द्वारा दान किया जाता है। अब दो वर्ष की अवधि भी पूर्ण हो रही थी। लोकांतिक देवों ने आकर भगवान् को नमस्कार किया और बड़े ही मनोहारी, मधुर, प्रिय, इष्ट एवं कल्याणकारी शब्दों में निवेदन किया कि हे लोकेश्वर लोकनाथ! अब आप सर्वविरत होवें। हे तीर्थेश्वर! धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन करके संसार के समस्त जीवों के लिये हितकारी सुखदायक एवं निश्रेयसकारी मोक्ष मार्ग का प्रवर्त्तन करें।

(१) चौवीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, पृ० १३६-१४० विस्तार के लिये देखें:-

१. भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २७८-७९
२. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २२३-२२४
३. तीर्थंकर-चरित्र, भा० ३ पृ० १४२-१४४
४. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ० १३६ से १३:
५. आवश्यक चूर्णि, पृ० २४९
६. आचारांग, १।६।११
७. महावीर चरित्र, गुणचन्द्र, पृ० १३४
८. आगमों में तीर्थंकर चरित्र, पृ० ४१५-४१६

दर्शन चारित्र से इन्द्रियों के विषय-विकारों को जीतें और प्राप्त श्रमण धर्म का पालन करें। हे देव ! आप विघ्न बाधाओं को जीत कर सिद्धि प्राप्त करो। तप साधना करके हे महात्मन् ! आप राग-द्वेष रूपी मोह मल्ल को नष्ट कर दो। हे मुक्ति के महापथिक ! आप धीरज रूपी दृढ़तम कच्छ बांधकर उत्तमोत्तम शुक्ल ध्यान से कर्म शत्रु का मर्दन करके नष्ट कर दो। हे वीरवर ! आप अप्रमत्त रहकर लोक में आराधना रूपी ध्वजा फहराओ। हे साधक शिरोमणि ! आप अज्ञान-रूपी अंधकार को नष्ट करकें केवलज्ञान रूपी महान् प्रकाश प्राप्त करो। हे महावीर ! परीषहों की सेना को पराजित कर आप परम विजयी बनें। हे क्षत्रिय वर वृषभ ! आपकी जय हो, विजय हो। आपकी साधना निर्विघ्न पूर्ण हो। आप सभी प्रकार के भयों में क्षमा प्रधान रहकर भयातीत बनें। जय हो। विजय हो।" १

इस प्रकार जयघोष से गगन मंडल को गुंजाती हुई महाभिनिष्क्रमण यात्रा क्षत्रिय कुण्डलनगर से रवाना हुई और भगवान् महावीर ज्ञात खण्ड पधारे।

दीक्षा महोत्सव२ :

विशाल जन समूह के साथ क्षत्रिय कुण्ड ग्राम के मध्य से होते हुए ज्ञातृ-खण्ड उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पहुंचे। शिबिका में से वर्धमान नीचे उतरे और अपने हाथों से आभूषणादि उतारे। आवश्यक चूर्णि, महावीर चरियं के अनुसार वे वस्त्राभूषण कुल महत्तरा लेती हैं और उत्तरपुराण के अनुसार शक्रेन्द्र लेता है। चूर्णि और महावीर चरियं के अनुसार कुल महत्तरा भगवान् को संयमी जीवन को उत्कृष्ट पालन करने का सन्देश देती है। पश्चात् उन्होंने पंचमुष्टि लुंचन किया। शक्रेन्द्र ने जानुपाद रहकर उन केशों को एक रत्नमय थाल में ग्रहण किया तथा क्षीर समुद्र में उसे विसर्जित कर दिया।

उस दिन महावीर के षष्ठ भक्त का तप था। विशुद्ध लेश्या थी। हेमन्त ऋतु थी। मार्गशीर्ष कृष्णादशमी तिथि थी। सुव्रत दिवस था, विजय

१. तीर्थंकर चरित्र, भा० ३, पृ० १४४-४५ और
   (१) आचारांग २।१५।२७-२८-२९
२. दीक्षा महोत्सव का विवरण भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २८४-८५ के आधार पर.

मुहुर्त था, चतुर्थ प्रहर था तथा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। सिद्धों को नमस्कार करके भगवान् ने सामायिक चरित्र स्वीकार किया। जिस समय प्रभु ने सामायिक प्रतिज्ञा स्वीकार की उस समय देव और मानव सभी चित्रलिखित से रह गये।

देवेन्द्र ने भगवान् को देवदूष्य (दिव्य-वस्त्र) प्रदान किया। भगवान् ने अपना जीत आचार समझकर उसे वामस्कंध पर धारण किया। आचारांग, कल्पसूत्र, आवश्यक चूर्णि आदि में एक देवदूष्य वस्त्र लेकर दीक्षा लेने का उल्लेख है। भगवान् महावीर ने एकाकी दीक्षा ग्रहण की थी।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में देवदूष्य वस्त्र के साथ संयम ग्रहण का उल्लेख नहीं है।

दीक्षा लेते ही महावीर को मनः पर्यवज्ञान हुआ। जिससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को जानने लगे थे।

अभिग्रह :

सबको बिदा कर प्रभु ने निम्नांकित अभिग्रह धारण किया—

"आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब तक मैं देह की ममता छोड़कर रहूंगा अर्थात् इस बीच में देव, मनुष्य या तिर्यन्च जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक् रूपेण सहन करूंगा।[1] "इसके उपरान्त उन्होंने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार कर दिया। उस समय वहां उपस्थित जनसमूह जाते हुए प्रभु को तब तक देखता रहा जब तक कि वे आंखों से ओझल नहीं हो गये। भगवान् सन्ध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कूर्मारग्राम पहुंचे तथा वहां ध्यानावस्थित हो गये।[2]

१. (१) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ०२२६
   (२) भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० २८६
   (३) आचारांग, २।२३।३६१
२. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर पृ० २२६

प्रथम पारणा :

दूसरे दिन भगवान् महावीर कूर्मारग्राम से विहारकर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहां बहुल नामक ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न से छट्ठ तप का प्रथम पारणा किया ।[1] 'अहोदानमहोदानम्' के दिव्यकोष के साथ देवगण ने नभो मण्डल से पंच दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की ।

साधना और उपसर्ग :

महावीर के साधक जीवन का यह उज्ज्वल अध्याय समता की साधना से प्रारम्भ होकर समता की सिद्धि में परिसमाप्त होता है । इसकी वर्णमाला का प्रथम वर्ण 'अभय' से प्रारम्भ होकर धीरता, वीरता, समता, क्षमा की साधना के साथ 'ज्ञान' (केवलज्ञान) पर जाकर परिपूर्ण होता है । सम्पूर्ण जैन साहित्य में, समस्त तीर्थंकरों की साधना में महावीर की साधना का अध्याय एक अद्वितीय है, एक आश्चर्यकारी आभा से दीप्त है । इसका प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द ध्वनिरहित होकर भी एक ऐसे नाद से गुंजित है, जिसमें समता, सहिष्णुता, क्षमा, अभय, धीरता वीरता, संयम-समभाव, तपस्या, ध्यान, त्याग और वैराग्य का मधुर मधुर नाद प्रतिक्षण, प्रतिपल गुंजायमान हो रहा है । उनके साधक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है—'अभय' और 'समभाव' । उपसर्गों के पहाड़ टूट टूट कर गिरे, प्राकृतिक, मानवीय एवं दैविक उपद्रवों एवं संकटों के प्राणघातक तूफान प्रलयकाल की तरह पद-पद पर उमड़ते रहे । साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में जैसे हर पथ पर और हर कदम पर नुकीले विषभरे कांटे बिछाये गये थे । हर दिशा के हर प्रान्त में दैत्यों के क्रूर अट्टहास हो रहे थे । सिंहों की दहाड़ें गूंज रही थीं । अंगारे बरस रहे थे । तूफान मचल रहे थे । संकट, कष्ट और उपद्रव की आंधियां आ रही थीं और महावीर अदम्य साहस, अपराजेय संकल्प और अनन्त आत्मबल के साथ उन कांटों को कुचलते चले गये, संकटों के बादलों को चीरते चले गये, आंधियों के सामने चट्टान बन कर डट गये और दैत्यों को अपनी दिव्यता से परास्त करते चले गये । अनन्त प्रकाश, अनन्त शांति और अनन्त आत्मसुख के छोर तक ।

१. वही० पृ० २२७,
(२) आव० चू० पृ० २७०

उनका साधक जीवन बड़ा ही रोमांचक, प्रेरक और शौर्यपूर्ण रहा है। आचार्य भद्रबाहु ने इसीलिये तो इस सत्य को मुक्त मन से उद्धृत किया है—"एक ओर तेईस तीर्थंकरों के साधक जीवन के कष्ट और एक ओर अकेले महावीर के। तेईस तीर्थंकरों की तुलना में भी महावीर का जीवन अधिक कष्ट प्रवण, उपसर्गमय एवं तप प्रधान रहा"।१

भगवान् के साधनाकाल में उन्हें जो दैविक, पाशविक एवं मानुषिक उपसर्ग, कष्ट एवं परीषह उपस्थित हुए और उन प्रसंगों पर उनकी अन्तःकरण की करुणा, कोमलता, कठोर तितिक्षा, दृढ़ मनोबल और अविचल ध्यान समाधि की जो अपूर्व विजय हुई है—उसका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार दिया जा रहा है।

क्षमामूर्ति महावीर-गोपालक प्रसंग२ :

जिस समय भगवान् कुर्मारग्राम के बाहर स्थाणु की भांति अचल ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलों को लिये वहां आया। गो दोहन का समय हो रहा था। ग्वाले को गांव में जाना था। पर उसके सामने समस्या थी कि बैलों को किसे संभलाए? उसने इधर-उधर दृष्टि फैलाकर देखा, एक श्रमण ध्यान में स्थिर खड़ा है। ग्वाले ने निकट आकर कहा—"जरा बैलों का ध्यान रखना, मैं शीघ्र ही गायें दुहकर आता हूं।"

ग्वाला चला गया। महाश्रमण अपने ध्यान में तल्लीन थे। समाधि में स्थिर थे। जिन्होंने अपने शरीर की रखवाली त्याग दी वे भला किसके बैलों की रखवाली करते?

(१) तीर्थंकर महावीर, श्री मधुकर मुनि एवं अन्य, पृ० ५६
(२) १. त्रिषष्टि० १०।३
२. तीर्थंकर महावीर पृ० ६४-६४
३. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर पृ० २२६-२२७
४. भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २६२-२६३
५. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ० १४८-१५
६. तीर्थंकर चरित्र, भाग ३ पृ० १४७-१४८
७. चूर्णि, पृ० २६६
८. महावीर चरियं, ५।१४४

भूख प्यास से पीड़ित थके हारे बैल चरते चरते वन में दूर तक चले गये। कुछ समय के बाद ग्वाला लौटा, बैलों को वहां नहीं देखा, तब उसने महावीर से पूछा—'बतलाओ मेरे बैल कहां गये हैं ?' महावीर ध्यानस्थ थे। कुछ उत्तर नहीं पाकर वह आगे बढ़ गया। नदी के किनारे किनारे, ऊंचे टीले, गहरे नाले, घनी झाड़ियां, झुरमुट, जंगल का कोना कोना छान डाला। रातभर भटकता रहा, इधर उधर ठोकरें खाता रहा, पर बैल नहीं मिले।

ग्वाला सारी रात भटक कर थका हुआ खिन्न मन से निराश हो लौट रहा था। इधर बैल भी वन में से चरते फिरते महावीर के पास आकर बैठ गये थे। ग्वाले ने महावीर के पास बैलों को बैठे हुए देखा तो मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया, उसकी आंखें तमतमा उठीं। महावीर को अपशब्द कहने लगा। साधु के वेश में चोर। मेरे बैलों को छिपाकर रातभर कहीं एकांत में रख लिया, मालूम होता है अभी लेकर चम्पत होना चाहता था। मैं रातभर भटकता भटकता हैरान हो गया, पर बैल मिलते भी कैसे ? ले अभी उसका तुझे दण्ड देता हूं। क्रोध के वश हो ग्वाला रस्सी से महावीर को मारने दौड़ा।

उस समय देवसभा में बैठे हुए देवराज इन्द्र ने विचार किया कि देखूं इस समय भगवान् महावीर क्या कर रहे हैं ? अवधिज्ञान से ग्वाले को इस प्रकार मारने को तत्पर देखकर इन्द्र ने उसे वहीं स्तम्भित कर दिया और साक्षात् प्रकट होकर कहा—'अरे दुष्ट ! क्या कर रहा है ? सावधान।'

देवराज इन्द्र की कड़कती हुई ललकार से ग्वाला सकपकाकर एक ओर खड़ा हो गया। इन्द्र ने कहा—"मूर्ख ! जिसे तू चोर समझता है, वे चोर नहीं हैं, ये तो राजा सिद्धार्थ के तेजस्वी पुत्र वर्धमान हैं। राज-वैभव को लात मारकर ये आत्म-साधना के लिये निकले हैं, ये तेरे बैलों की क्या चोरी करेंगे ? खेद है तू प्रभु पर प्रहार कर रहा है।" यह सुनकर गोपालक अपने क्रूर कर्म पर पश्चाताप करने लगा और दुखित हुआ। उसे तीव्र आत्म-ग्लानि हुई। भगवान् के चरणों में नमन कर वह क्षमा-याचना करने लगा।

कुछ समय के बाद भगवान् का कायोत्सर्ग समाप्त हुआ और उन्होंने देखा कि इन्द्र उनके सामने करबद्ध अवस्था में खड़ा है। इन्द्र ने भगवान् से निवेदन किया कि आपको अपनी साधना में अनेकानेक कष्ट भोगने पड़ेंगे। दुर्जन इसमें

तनिक भी पीछे नहीं रहेंगे। प्रभु ! आप आज्ञा दें तो मैं आपके साथ रहकर इन बाधाओं को दूर करता चलूं।

भगवान् को इसकी आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी साधना स्वाश्रयी है। अपने पुरुषार्थ से ही ज्ञान व मोक्ष सुलभ हो सकता है। कोई भी अन्य इसमें सहायक नहीं हो सकता। आत्मबल ही साधक का एक-मात्र आश्रय होता है। भगवान् ने इस सिद्धांत का आजीवन निर्वाह किया।

तापस के आश्रम में :

साधक महावीर विहार करते करते एक समय मोराक ग्राम के समीप पहुंचे, जहां तापसों का एक आश्रम था। हुइज्जंत इस आश्रम के कुलपति थे और ये भगवान् के पिता के मित्र थे। कुलपतिजी ने भगवान् से आग्रह किया कि वे इसी आश्रम में चातुर्मास व्यतीत करें। भगवान् ने भी इस आग्रह को स्वीकार कर लिया और वे एक पर्ण कुटिया में खड़े होकर ध्यानावस्थित हो गये।

कुटियाएं घास-फूस से निर्मित थीं और सभी तापसों की अलग अलग कुटियाएं थीं। वर्षा का प्रारम्भ भली प्रकार नहीं हो पाया था और घास भी नहीं उग पाई थी। अतः गायें आश्रम में घुसकर इन कुटियाओं की घास चर लिया करती थीं। अन्य तापस तो गायों को भगाकर अपनी कुटियाओं की रक्षा कर लिया करते थे किन्तु ध्यानमग्न रहने वाले महावीर को इतना अव-काश कहां ? वे तो वैसे भी ममत्व से परे हो गये थे। ये अन्य तापस अपनी कुटिया के साथ साथ महावीर की कुटिया की रक्षा भी कर लिया करते थे।

एक अवसर पर जब सभी तापस आश्रम से बाहर कहीं गये हुए थे, तो गायों ने पीछे से सभी कुछ चौपट कर दिया। जब तापस लौटकर आश्रम में आये और आश्रम की दुर्दशा देखी तो बहुत दुःखी हुए। वे भगवान् पर भी क्रोधित हुए कि वे इतनी भी चिंता नहीं रख सके। तापस क्रोध में आकर भगवान् की कुटिया की ओर चले। वहां उन्होंने जो देखा तो अचम्भित रह गये। उनकी कुटिया की सारी घास भी गायें चर गई थीं और वे अभी भी ध्यान में लीन ज्यों के त्यों खड़े थे। इस घोर और अटल तपस्या के कारण तापसों के मन में ईर्ष्या की ज्वाला प्रज्जवलित हो उठी। तापसों ने कुलपति

की सेवा में उपस्थित होकर महावीर के विरुद्ध प्रलाप किया कि वे अपनी कुटिया तक की रक्षा नहीं कर पाये।

कुलपति हुइज्जतं ने यह सुनकर आश्चर्य व्यक्त किया और महावीर से कहा कि तुम कैसे राजकुमार हो ? राजपुत्र तो सम्पूर्ण मातृभूमि की रक्षा के लिये सदैव तत्पर रहते हैं, अपने प्राणों की बाजी भी लगा देते हैं और एक तुम हो कि अपनी कुटिया की भी रक्षा नहीं कर पाये। पक्षी भी तो अपने घोंसलों की रक्षा का दायित्व सावधानी के साथ पूरा करते हैं । भगवान् महावीर ने आक्षेप का कोई प्रतिकार नहीं किया, वे सर्वथा मौन ही रहे। किन्तु उनका मन अवश्य ही सक्रिय हो गया । वे विचार करने लगे कि ये लोग मेरी अवस्था और मनोवृत्तियों से अपरिचित हैं। मेरे लिये क्या कुटिया और क्या राजभवन ? यदि मुझे कुटिया के लिये ही मोह रखना होता तो राजप्रासाद ही क्यों छोड़ता ? उन्होंने अनुभव किया कि इस आश्रम में साधना की अपेक्षा साधनों का अधिक महत्व माना जाता है, जो राग उत्पन्न करता है। अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि ऐसे वैराग्य-बाधक स्थल पर मैं नहीं रहूंगा । वे अपने निश्चयानुसार आश्रम का त्याग कर विहार कर गये। इसी समय भगवान् महावीर ने पांच प्रतिज्ञाएँ धारण की जो आज भी एक सच्चे साधक के लिये आदर्श हैं—

(१) अप्रीतिकारक स्थान में नहीं रहूंगा।
(२) सदा ध्यान में ही रहूंगा।
(३) मौन रखूंगा, किसी से नहीं बोलूंगा ।
(४) हाथ में ही भोजन करूंगा। और
(५) गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूंगा।[1]

१. इस प्रसंग के विस्तृत विवरण हेतु देखें
(१) त्रिषष्टि०, - १०।३.
(२) आवश्यक चूर्णि, - २६६-२७१
(३) भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० २९५ से ३००
(४) चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १४३-१४४
(५) ऐति. काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २२६-२३१
(६) तीर्थंकर महावीर, पृ० ६५-६७
(७) तीर्थंकर चरित्र, भाग ३ पृ० १५३-५४
(८) भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ० १५३-५४

यक्ष का उपद्रव :

विचरणशील साधक भगवान् महावीर अस्थिक ग्राम में पहुंचे । ग्राम के पास ही एक प्राचीन और ध्वस्त मंदिर था, जिसमें यक्ष बाधा बनी रहती है—इस आशय की सूचना महावीर को भी प्राप्त हो गयी । ग्रामवासियों ने यह सूचना देते हुए अनुरोध किया कि वे वहां विश्राम न करें । में वह मन्दिर सुनसान और बहुत ही डरावना था । रात्रि में कोई भी यहां ठहरता नहीं था, यदि कोई दुस्साहस कर बैठता तो वह जीवित नहीं रह पाता था ।

भगवान् ने तो साधना के लिये सुरक्षित स्थान चुनने का व्रत धारण किया था । मन में सर्वथा निर्भीक ही थे । अतः उन्होंने उसी मंदिर को अपना साधना-स्थल बनाया । वे वहां खड़े होकर ध्यानस्थ हो गये । ऐसे निडर, साहसी, व्रतपालक और अटल निश्चयी थे—भगवान् महावीर । वह भादवा-सुदी ५ का दिन था ।

रात्रि के घोर अन्धकार में अत्यन्त भीषण अट्टहास उस मंदिर में गूंजने लगा । भयानकता समस्त वातावरण में छा गयी, किन्तु भगवान् महावीर निश्चल ध्यानमग्न ही रहे । यक्ष को अपने पराक्रम की यह उपेक्षा असह्य लगी । वह क्रुद्ध हो उठा और विकराल हाथी, हिंस्र सिंह, विशालकाय दैत्य, भयंकर विषधर आदि विविध रूप धारण कर भगवान् को आतंकित करने के प्रयास करता रहा । अनेक प्रकार से भगवान् को उसने असह्य, घोर कष्ट पहुंचाये । साधना में अटल महावीर रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए । वे अपनी साधना में तो क्या विघ्न पड़ने देते, उन्होंने आह-कराह तक नहीं की ।

जब सर्वाधिक प्रयत्न करके और अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करके भी यक्ष शूलपाणि भगवान् को किसी प्रकार कोई हानि नहीं पहुंचा सका, तो वह पराजित होकर लज्जा का अनुभव करने लगा । वह विचार करने लगा कि यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं है—निश्चय ही महामानव है । यह धारणा बनते ही वह अपनी समस्त हिंसावृत्ति का त्याग कर भगवान् के चरणों में नमन करने लगा और अपने अपराध के लिये क्षमा मांगी ।

भगवान् ने समाधि खोली । उनके नेत्रों से स्नेह और करूणा टपक रही थी । यक्ष को प्रतिबोध दिया जिससे उसके अन्तरचक्षु खुल गये, मन का भय

मिट गया, क्रोध शान्त हो गया। यक्ष के प्रतिबोधित होते ही हजारों लाखों लोगों की विपत्तियां स्वतः ही समाप्त हो गई।

तापस हुइज्जतं के आश्रम में चातुर्मासार्थ केवल पन्द्रह दिन ही रह सके फिर पैंतीस दिन स्थान नहीं मिल सकने के कारण पर्यूषण (एक स्थान पर अच्छी प्रकार रह सकना) किया नहीं। अन्ततः भगवान् को भादवा सुद ५ को अस्थिकग्राम में शूल-पाणि यक्ष का यक्षायतन मिला जहां पर ७० दिन का वर्षा वास किया। यही ७० दिन का जघन्य पर्यूषण माना गया है।

⊙

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

यह प्रसंग हिंसा पर अहिंसा की विजय का प्रतीक है। एक बार भगवान् को कनकखल से श्वेताम्बी पहुंचना था। जिसके लिये दो मार्ग थे। एक मार्ग लम्बा होते हुए सुरक्षित था और सामान्यतः उसी का उपयोग किया जाता था। दूसरा मार्ग यद्यपि लघु था तथापि बड़ा भयंकर था इस कारण इस मार्ग से कोई भी यात्रा नहीं करता था। इस मार्ग में एक घना वन था, जिसमें एक— अतिभयंकर विषधर चण्डकौशिक नामक नाग का निवास था जो 'दृष्टिविष' सर्प था। यह मात्र अपनी दृष्टि डाल कर ही जीवों को डस लिया करता था। इस नाग के विष की विकरालता के विषय में यह प्रसिद्ध था कि उसकी फूफकार मात्र से उस वन के समस्त जीव जन्तु तो मर ही गये हैं, वरन् समस्त वनस्पति भी जल गई है। इससे इस प्रचण्ड नाग का अत्यधिक आतंक था।

भगवान् ने श्वेताम्बी जाने के लिये इसी छोटे भयंकर मार्ग का चुनाव किया। कनकखलवासियों ने भगवान् को उस भयंकर विपत्ति से अवगत कराया और इस मार्ग से न जाने का सविनय अनुरोध भी किया किन्तु भगवान् का निश्चय तो अटल था। वे इसी मार्ग पर निर्भीकतापूर्वक बढ़ गये। भयंकर विष को मानो अमृत का प्रवाह परास्त करने के लिये सोत्साह बढ़ रहा हो।

भगवान् सीधे जाकर चण्डकौशिक की बांबी के समीप ही खड़े होकर ध्यानमग्न हो गये। कष्ट और संकट को निमंत्रित करने का और कोई अन्य उदाहरण इसकी समानता नहीं कर सकता ? घोर विष को अमृत बना देने की शुभाकांक्षा ही भगवान् की अन्तःप्रेरणा थी जिसके कारण इस भयप्रद स्थल पर भी वे अविचलित रूप से ध्यानमग्न बने रहे।

अपने भयानक विष से वातावरण को दूषित करता हुआ चण्डकौशिक भूगर्भ से बाहर निकल आया और अपने प्रतिद्वंद्वी मानव को देखकर वह हिंसा के

प्रबल भाव से भर गया। मेरी प्रचण्डता से यह भयभीत नहीं हुआ और मेरे निवास स्थान पर ही आकर खड़ा हो गया। यह देखकर नाग बौखला गया और उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भगवान् के चरण पर दंशाघात किया। इस कराल प्रहार से भी भगवान् की साधना में कोई व्याघात नहीं आया। अपनी इस प्रथम पराजय से वह तिलमिला उठा। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर भगवान् के शरीर से दूध के समान श्वेत मधुर धारा बह रही है। इस पराभव ने सर्प के आत्मबल को ढहा दिया। वह निर्बल और निस्तेज सिद्ध हो रहा था। यह विष पर अमृत की अनुपम विजय थी।

चण्डकौशिक ने भगवान् की सौम्य मुद्रा देखी उस पर ईहा अपाय लगाते ही उसे जाति स्मरण ज्ञान हो आया, उसको बोध प्राप्त हो गया। वह अपने किये कर्म के लिये पश्चाताप करने लगा। भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल, विमल करूणा के आगे उसका पाषाण हृदय भी पिघल कर पानी बन गया। उसने शुद्ध मन से संकल्प किया कि अब किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से मृत्युपर्यन्त कभी कोई आहार ही ग्रहण करूंगा।

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिये इधर उधर दूर खड़े थे किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा देखकर वे धीरे धीरे पास आये और भगवान् के अलौकिक प्रभाव को देख कर अचंभित हो गये। चण्डकौशिक की इस घटना के पश्चात् भगवान् विहार कर गये। सर्प बिल में मुंह डालकर पड़ गया। लोगों ने कंकर मार मार कर उसको चलित चित्त बनाने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले डुले ज्यों का त्यों पड़ा रहा। उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप में बदल चुका था। नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुनकर आबाल वृद्ध नरनारी उसकी अर्चा पूजा करने लगे। कोई उसे दूध शकर चढ़ाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता। इस तरह मिठास के कारण थोड़े ही समय में बहुत सी चींटियां आ आकर नाग के शरीर से चिपट गई और काटने लगीं, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर

उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की । भगवान् के पदार्पण से उसका उद्धार हो गया ।१

नौका-रोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे । वहां उनका नाग सेन के यहाँ पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ । फिर वहाँ से विहार कर भगवान् श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहां के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया ।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले । बीच में गंगा नदी बह रही थी । अतः गंगा पार करने के लिये भगवान् महावीर को नौका में बैठना पड़ा । ज्यों ही नौका चली त्यों ही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये । उनको सुनकर नौका पर सवार खेमिलनिमितज्ञ ने कहा– "बड़ा संकट आने वाला है, किन्तु इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे ।" थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आंधी के प्रबल झोंकों में पड़कर नौका भंवर में पड़ गई । कहा जाता है कि त्रिपृष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसी के जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के बाद तूफान उत्पन्न किया । समस्त यात्री घबरा उठे किन्तु भगवान् महावीर निर्भय थे । अन्त में भगवान् की कृपा से आंधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी । कम्बल और शम्बल नामक नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में भगवान् की सेवा की ।२

(१) १. त्रिषष्टि, १०।३
२. आव० चूर्णि प्रथम भाग, पृ० २७९
३. आव० नियु०, गा० ४६७
४. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २३५ से २३८
५. तीर्थंकर महावीर, पृ० ७३ से ७७
६. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १४५-१४६

(२) १. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २३८
२. चूर्णि, पूर्वभाग पृ० २८०-२८१

गोशालक प्रसंग

गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था। उसके सम्प्रदाय का उल्लेख आजीवकमत के नाम से आज भी कहीं कहीं शास्त्रों में पाया जाता है। बौद्ध पिटकों में भी उसका उल्लेख है।

गोशालक का जीवन अत्यन्त विलक्षण था, किन्तु जितना विलक्षण था उतना ही उच्छ्रंखल भी था। उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। भगवान् महावीर से उसे ज्ञान प्राप्ति हुई। आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना में उसके जीवन का विकास हुआ। लेकिन उसकी बुद्धि ने पलटा खाया और अरिहंत देव से उसने वाद-विवाद कर पराजय का मुख देखा। अन्त में उसने क्षमा-याचना की, तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया, यही गोशालक का रेखा चित्र है।

जैन शास्त्रों के अनुसार उसको भगवान् महावीर से आध्यात्मिक ज्ञान की विरासत मिली थी। यहां तक कि उच्च विद्याएं भी उसने भगगान् की कृपा से प्राप्त की थी। जिनमें तेजोलेश्या जैसी लब्धियां भी हैं लेकिन उसकी उद्दण्डवृत्ति और उच्छ्रंखलता ने उसको आजीवक सम्प्रदाय बनाने के चक्कर में डाला और उसने केवल नियति को मुख्य सिद्धान्त बनाकर सम्प्रदाय की स्थापना की।

उस समय तो, गोशालक का वर्चस्व एवं प्रभाव इतना था कि सम्प्रदाय चल निकला। लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका प्रभाव कम हो गया। उसका जीवन सुन्दर होते हुए भी शालीनताहीन था, अतः महावीर ने उसे अपने सुशिष्य के स्थान पर कुशिष्य रूप में स्वीकार किया है।

गोशालक और महावीर का वर्णन भगवती सूत्र में बहुत विस्तार से किया गया है। उसकी तेजोलेश्या से दो साधुओं का भस्म हो जाना और भगवान् के दाह न होना भी शास्त्र में वर्णित है।[1]

गो-शालक दूषित मनोवृत्ति का तो था ही। स्वयं चोरी करके भगवान् की ओर संकेत कर देने तक में उसे कोई संकोच नहीं होता था। करुणा सिंधु

१. जैन धर्म : मुनि सुशीलकुमार पृ० ३२

भगवान् महावीर पर भला इसका क्या प्रभाव होता ? उनके चित्त में गोशालक के प्रति कोई दुर्विचार भी कभी नहीं आया। भगवान् वन में विहाररत थे, गोशालक भी उनका अनुसरण कर रहा था। उसने वहां एक तपस्वी के प्रति दुर्विनीत व्यवहार किया और कुपित होकर उसने गोशालक पर तेजोलेश्या का प्रहार कर दिया। प्राणों के भय से वह भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करने लगा। करुणा की प्रतिमूर्ति भगवान् ने शीतलेश्या के प्रभाव से उस तेजोलेश्या को शान्त कर दिया। अब तो गोशालक तेजोलेश्या की विधि बताने के लिये भगवान् से बारम्बार अनुनय विनय करने लगा और भगवान् ने उस पर कृपा कर दी। संहार साधन पाकर उसने भगवान् का आश्रय त्याग दिया और तेजोलेश्या की साधना में लग गया। कालान्तर में उसने तेजोलेश्या का प्रयोग भगवान् पर ही किया किन्तु अंततः वह ही समाप्त हुआ।[1]

कटपूतना का उपद्रव

भगवान् महावीर ग्रामक-सन्निवेश से विहार कर शालीशीर्ष के रमणीय उद्यान में पधारे। माघ मास का सनसनाता समीर प्रवहमान था। साधारण मनुष्य घरों में वस्त्र ओढ़कर भी कांप रहे थे, किन्तु उस ठण्डी रात में भी भगवान् वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उस समय कटपूतना नामक व्यन्तरी देवी वहां आई। भगवान् को ध्यानावस्था में देखकर उसका पूर्व वैर उद्बुद्ध हो गया। वह परिव्राजिका का रूप बनाकर मेघधारा की तरह जटाओं से भीषण जल बरसाने लगी और भगवान् के कोमल स्कंधों पर खड़ी होकर तेज हवा करने लगी। बर्फ-सा शीतल जल और तेज पवन तलवार के प्रहार से भी अधिक तीक्ष्ण प्रतीत हो रहा था, तथापि भगवान् अपने उत्कट ध्यान से विचलित नहीं हुए।

उस समय समभावों की उच्च श्रेणी पर चढ़ने से भगवान् को विशिष्ट अवधिज्ञान (लोकावधि ज्ञान) की उपलब्धि हुई। परीषह सहन करने की अमित तितिक्षा एवं समता को देखकर कटपूतना चकित थी, विस्मित थी।

(१) १. **चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १५०**
२. **ऐति० काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २३६-२४३**
३. **भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० ३१८ से ३२६**

भगवान् के धैर्य के समक्ष वह पराजित होकर चरणों में झुक गई और अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करने लगी।१

संगमदेव के उपसर्ग

भगवान् महावीर की अपूर्व एकाग्रता, कष्ट सहिष्णुता को देखकर देव-राज इन्द्र ने भरी सभा में गद्गद् स्वर में भगवान् को वन्दन करते हुए कहा कि प्रभो! आपका धैर्य, आपका साहस, आपका ध्यान अनूठा है। मानव तो क्या, शक्तिशाली देव और दैत्य भी आपको इस साधना से विचलित नहीं कर सकते। इन्द्र की इस भावना का अनुमोदन सम्पूर्ण सभा ने किया किन्तु संगम नामक एक देव को यह बात हृदय से स्वीकार नहीं हुई। उसे अपनी दिव्य शक्ति पर बड़ा गर्व था। उसने इसका विरोध किया और भगवान् को अपनी साधना से विचलित करने की दृष्टि से देवेन्द्र का वचन लेकर उस स्थान पर पहुंचा जहां भगवान् ध्यानलीन थे। उसने आते ही उपसर्गों का जाल बिछा दिया। एक के बाद एक विपत्तियों का चक्र चलाया। जितना अधिक कष्ट वह दे सकता था वह प्रभु को दिया। तन के रोम रोम में पीड़ा उत्पन्न की, किन्तु भगवान् जब प्रतिकूल उपसर्गों से बिल्कुल भी प्रकम्पित नहीं हुए तब उसने अनुकूल उपसर्ग प्रारम्भ किये। प्रलोभन और विषयवासना के मोहक दृश्य उपस्थित किये। गगन मण्डल से तरूण सुन्दरियां उतरी, हावभाव और कटाक्ष करती हुई भगवान् से क्षमायाचना करने लगी, पर महावीर तो निष्प्र-कम्प थे, पाषाण-प्रतिमा की भांति उन पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे सुमेरु की भांति ध्यान में अडिग रहे। संगम देव ने एक रात्रि में बीस विकट उपसर्ग किये, वे इस प्रकार हैं:—

१. प्रलयंकारी धूल की वर्षा की।

२. वज्रमुखी चींटियां उत्पन्न की, जिन्होंने काट काटकर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।

३. डांस और मच्छर छोड़े जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।

(१) १. चौबीस तीर्थंकर एक पर्य० पृ० १५०

२. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर पृ० २३६ से २४३

३. भगवान् महावीर : एक अनु० पृ० ३१८ से ३२६

४. दीमक उत्पन्न की जो शरीर को काटने लगी।

५. विच्छुओं द्वारा डंक लगवाये।

६. नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांसखण्ड को छिन्न भिन्न करने लगे।

७. भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पों से कटवाया।

८. चूहे उत्पन्न किये जो शरीर में काट काटकर ऊपर पेशाव कर जाते।

९.–१०. हाथी और हथिनी प्रकट कर सूंडों से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दांतों से प्रभु पर प्रहार करवाये।

११. पिशाच बनकर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा।

१२. वाघ बनकर भगवान् के शरीर का नखों से विदारण किया।

१३. सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बनाकर करुणाविलाप करते दिखाया।

१४. भगवान् के पैरों के वीच आग जलाकर भोजन पकाने का प्रयास किया।

१५. चाण्डाल का रूप बनाकर भगवान् के शरीर पर पक्षियों के पिंजर लटकाये जो चौंचों और नखों से प्रहार करने लगे।

१६. आंधी का रुप खड़ा कर कई वार प्रभु के शरीर को उठाया।

१७. कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की भांति घुमाया।

१८. कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन में धंस गये।

१९. देवरूप से विमान में वैठकर आया और बोला-- कहो तुमको स्वर्ग चाहिये या अपवर्ग (मोक्ष) ? और

२०. एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया किन्तु उसके रागपूर्ण हावभाव से भी भगवान् विचलित नहीं हुए।

बीस भयंकर उपसर्ग देने पर भी उनका मुख कुन्दन की भांति चमक रहा था। मानो मध्याह्न का सूर्य हो।

प्रश्न किया जा सकता है कि संगम ने विविध रुप बनाकर भगवान् महावीर के शरीर को जर्जरित और घावयुक्त वना दिया, वे समस्त घाव किस प्रकार मिट गये ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तीर्थंकर के शरीर में एक विशिष्ट प्रकार की संरोहण शक्ति होती है, जिससे उनके शरीर के घाव बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

रातभर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् अविचलित रहे तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा। भगवान् महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर 'वालुका' की ओर विहार किया। भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देखकर संगम लज्जित हुआ। उसने पांच सौ चोरों को मार्ग में खड़ा करके भगवान् को भयभीत करना चाहा। 'वालुका' से भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेता', 'मलभ' और 'हस्तिशीर्ष' आदि ग्रामों में जहां भी पधारे वहां संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा।

एक बार भगवान् तोसलिगांव के उद्यान में ध्यानस्थ विराजमान थे, तब संगम साधुवेष बनाकर गांव के घरों में सेंध लगाने लगा। लोगों ने चोर समझकर जब उसको पकड़ा और पीटा तो वह बोला कि मुझे क्यों पीटते हो। मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हें असली चोर को पकड़ना है तो उद्यान में जाओ, जहां मेरे गुरु कपट रुप में ध्यान किये खड़े हैं और उन्हें पकड़ो। उसकी बात से प्रभावित होकर तत्काल लोग उद्यान में पहुंचे और ध्यान में लीन महावीर को पकड़कर रस्सियों से जकड़कर गांव की ओर ले जाने लगे। उस समय 'महाभूतिल' नामक ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया क्योंकि उसने पहले कुंडग्राम में महावीर को देखा। अतः उसने लोगों को वास्तविकता से अवगत कराकर भगवान् को छुड़ाया। ऐन्द्रजालिक की बात पर लोगों ने भगवान् से क्षमा याचना की और झूठ बोलकर भगवान् को चोर कहने वाले संगम को लोग खोजने लगे लेकिन उसका कहीं पता नहीं चला। इस पर लोगों ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है।

इसके उपरांत भगवान् 'मोसलिग्राम' पधारे। संगम ने वहां भी उन पर चोरी का आरोप लगाया। भगवान् को पकड़ कर राज्य सभा में ले जाया गया। वहां 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो राजा सिद्धार्थ का मित्र था, ने महावीर को पहचान कर छुड़ाया। संगम यहां भी लोगों की पकड़ में नहीं आया और भाग गया। भगवान् पुनः लौटकर 'तोसलि' आये और गांव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। संगम ने यहां भी चोरी करके बहुत बड़ी मात्रा में शस्त्रास्त्र भगवान् के पास, इस दृष्टि से रखे कि महावीर फंस जावे। वह अन्यत्र जाकर सेंध लगाने लगा। जब वह पकड़ा गया तो उसने भगवान् का नाम बताकर उन्हें पकड़वा दिया। शस्त्र देखकर अधिकारियों ने उन्हें नामी चोर समझा और फांसी की सजा सुना दी। भगवान् को फांसी के तख्ते पर

चढ़ाकर ज्योंही उनकी गर्दन में फांसी का फन्दा डाला और नीचे से तख्ता हटाया त्योंही गले में पड़ा फंदा टूट गया। फिर फंदा लगाया किन्तु वह भी टूट गया। इस प्रकार सात बार फंदा टूटा! इस पर दर्शक और अधिकारीगण अचंभित रह गये। अधिकारियों ने भगवान् को महापुरुष समझकर मुक्त कर दिया। यहां से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहां भी संगम ने महावीर पर चोरी का आरोप लगाकर पकड़वाया किन्तु कौशिक नामक एक अश्व व्यापारी ने भगवान् को पहचानकर मुक्त करवाया।

वहां से भगवान् व्रजगांव पधारे। वहां उस दिन कोई महोत्सव था। अतः समस्त घरों में खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिये पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषणा'[1] कर दी। भगवान् इसे संगमकृत उपसर्ग समझकर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यान में लीन हो गये।

इस प्रकार लगातार छः मास तक अगणित कष्ट देने पर भी जब संगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे हैं तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और बोला-- "भगवन्! देवेन्द्र ने आपके विषय में जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो! मेरे अपराध क्षमा करो। वास्तव में आपकी प्रतिज्ञा सच्ची और आप उसके पारगामी हैं। अब आप भिक्षा के लिये जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होगा।"

संगम की बात सुनकर भगवान् बोले-- "संगम! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा ग्रहण करता हूं। मुझे किसी के आश्वासन की अपेक्षा नहीं है।" दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्णकर भगवान् उसी ग्राम में भिक्षार्थ पधारे और 'वत्सपालक' बुढ़िया के यहां परमान्न से पारणा किया। दान की महिमा से वहां पर पंच-दिव्य प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।[2]

१. एषणा समिति के दोषों से सहित
२. (१) ऐति. काल के तीन तीर्थंकर, पृ. २५२ से २५५
(२) भगवान् महावीर : एक अनु., पृ. ३३१ से ३४०
(३) आव. चू., पृ. ३११, ३१२, ३१३

चमरेन्द्र द्वारा शरण ग्रहण

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् महावीर सुंसुमारपुर पधारे। उस समय शकेन्द्र के भय से भयभीत हुआ चमरेन्द्र भगवान् के चरणों में आया और शरण ग्रहण की, इस सम्पूर्ण प्रसंग से भगवान् ने गौतम स्वामी को परिचित करवाया है। विवरण निम्नानुसार है।[1]

असुरराज चमरेन्द्र पूर्वभव में 'पूरण' नामक एक बाल तपस्वी था। वह छट्ठ का तप करता और पारणे के दिन काष्ठ के चतुष्पुट-पात्र में भिक्षा लाता। प्रथम पुट की भिक्षा पथिकों को प्रदान करता। द्वितीय पुट की भिक्षा पक्षियों को चुगाता, तृतीय पुट की भिक्षा जलचरों को देता और चतुर्थ पुट की भिक्षा समभाव से स्वयं ग्रहण करता। इस प्रकार उसने बारह वर्ष तक घोर तप किया और एक मास के अनशन के बाद आयु पूर्ण कर चमरचंचा राजधानी में इन्द्र बना।

इन्द्र बनते ही उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर सौधर्मावतंसक विमान में शक्र नामक सिंहासन पर शकेन्द्र को दिव्य भोग भोगते हुए देखा। उसने मन में विचार किया, यह मृत्यु को चाहने वाला, अशुभ लक्षणों वाला, लज्जा और शोभा रहित अंधेरी चतुर्दशी को जन्म लेने वाला, हीन पुण्य कौन है ? मैं उसकी शोभा को नष्ट कर दूं। पर मुझमें इतनी शक्ति कहां है। वह असुरराज सुंसुमारपुर नगर के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे जहां भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में ध्यानस्थ खड़े थे, वहां आया। उसने भगवान् महावीर की शरण ग्रहण करके शकेन्द्र और उनके देवों को त्रास देने के लिये विराट व विद्रूप शरीर की विकुर्वणा की और सीधा सुधर्मा-सभा के द्वार पर पहुंच कर डराने धमकाने लगा। शकेन्द्र ने भी क्रोध करके अपना वज्रायुद्ध ऊपरी ओर फेंका। आग की चिनगारियां डालते हुए वज्र को देखकर चमरेन्द्र जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से पुनः लौट गया। शकेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा तो विदित हुआ कि यह श्रमण भगवान् महावीर की

१. विस्तृत विवरण के लिये देखें : (१) भगवान् महावीर : एक अनु., पृ. ३४२-३४४ (२) आव. चू., ३१६, (३) महावीर चरि., गुणचंद्र पृ. २३४-२४० (४) तीर्थंकर महावीर, पृ. १०८-१११ (५) भगवतीशतक ३।२ सू. १४५।३०२

शरण लेकर आया है और पुनः वहीं भागा जा रहा है। कहीं यह वज्र भगवान् को कष्ट न दे। अतः वह शीघ्र ही वज्र लेने के लिये दौड़ा। चमरेन्द्र ने अपना सूक्ष्म रूप बनाया और भगवान् के चरणों में आकर छिप गया। वज्र महावीर के निकट तक पहुंचने से पूर्व ही इन्द्र द्वारा पकड़ लिया गया और चमरेन्द्र को भगवान् का शरणागत होने के कारण क्षमा कर दिया।

असुरराज सौधर्म सभा में कभी जाते नहीं, किन्तु अनन्त काल के बाद अरिहंत महावीर की शरण लेकर गये जिसे जैन साहित्य में आश्चर्य माना गया है।

ग्वाले द्वारा कानों में कील

भगवान् महावीर जंभिय ग्राम से छम्माणि ग्राम पधारे और गांव के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हुए। एक ग्वाला आया और वहां अपने बैलों को छोड़ गया। जब वह वापस आया तो बैल वहां नहीं थे। भगवान् को तो बैलों के वहां होने और न होने की किसी भी स्थिति का ध्यान नहीं था। ध्यानस्थ भगवान् से ग्वाले ने बैलों के विषय में प्रश्न किये, किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे तो ध्यानमग्न थे। क्रोधान्ध होकर ग्वाला कहने लगा कि इस साधु को कुछ सुनाई नहीं देता, इसके कान व्यर्थ हैं। इन्हें आज बन्द किये देता हूं और उसने भगवान् के दोनों कानों में लकड़ी की कीलें ठूंस दीं।[1] कितनी घोर यातना थी? भगवान् को कैसा दारुण कष्ट हुआ होगा? किन्तु वे सर्वथा धीर बने रहे। उनका ध्यान तनिक भी नहीं डोला। ध्यान की पूर्ति पर जब भगवान् भिक्षार्थ मध्यमा नगरी में सिद्धार्थ वणिक के यहां पहुंचे तो वणिक के वैद्य खरक ने इन कीलों को कान से बाहर निकाला।

कहा जाता है कि जब भगवान् के कानों में से कीलें निकाली गई उस समय उस अतीव वेदना से भगवान् के मुंह से एक चीख निकल पड़ी जिससे सारा उद्यान और देवकुल संभ्रमित होगया। वैद्य ने शीघ्र ही संरोहण औषधि से

१. आव० नि० ४०७

रक्त को बन्द कर दिया और घाव पर लगा दी। प्रभु को नमन व क्षमायाचना कर वैद्य और वणिक अपने स्थान पर चले आये।[1]

घोर अभिग्रह

मेढ़िया ग्राम से भगवान् महावीर कौशाम्बी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होंने एक विकट १३ बोलों का अभिग्रह धारण किया, यथा:-

(१) आहार पानी किसी राजकन्या से ग्रहण करना।
(२) वह राजकन्या बिकी हुई होना चाहिये।
(३) उसके पैरों में बेड़ियां पड़ी हों।
(४) उसके हाथों में हथकड़ियां पड़ी हों।
(५) उसका सिर मुंडा हुआ होना चाहिये।
(६) कांछड़ा लगा हुआ हो।
(७) वह राजकन्या तीन दिन की तपश्चर्या से मुक्त हो।
(८) जिसके हाथों में उड़द के बाकुले हों।
(९) बहराते समय वे बाकुले एक सूप में भरे हुए होने चाहिए।
(१०) वह राजकन्या उस सूप को लिये घर की देहली में होनी चाहिये।
(११) उसका एक पैर देहली के भीतर होना चाहिये।
(१२) उसका दूसरा पैर देहली के बाहर होना चाहिये।
(१३) उस समय उसकी आंखों से आंसू गिर रहे हों।

१. (१) आव० चूर्णि, ३२२
(२) महावीर चरियं, (नेमिचंद्र) १३४३-१३५१
(३) महावीर चरियं (गुणचंद्र) ७।२४८-२४९
(४) चउपन्न महा० चरियं २९८-२९९
(५) त्रिषष्टि०, १०।४।६२७-६४६, इस घटना का विवरण भगवान् महावीर पर लिखी गई वर्तमान अनेक पुस्तकों में विस्तार से मिलता है।

यदि ऐसी अवस्था में वह नृप कन्या अपने भोजन में से मुझे भिक्षा दे, तो मैं आहार करूंगा अन्यथा निराहार ही रहूंगा। यह अभिग्रह करके भगवान् विचरण करते रहे। श्रद्धालु जन विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों की भेंट सहित भगवान् की सेवा में उपस्थित होते किन्तु वे उन्हें अभिग्रह के प्रतिकूल होने से अस्वीकार कर आगे चल देते थे। इस प्रकार पांच माह पच्चीस दिन का समय निराहार ही व्यतीत हो गया। भगवान् का यह अभिग्रह चन्दनबाला से भिक्षा ग्रहण करने से पूर्ण हुआ और भगवान् ने आहार ग्रहण किया।

चन्दनबाला चम्पा नरेश दधिवाहन की पुत्री थी। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया था और विजयी सैनिक लूट के माल के साथ रानी और राजकुमारी को भी उठा लाये थे। मार्ग में रथ से कूद कर माता ने तो आत्मघात कर लिया किन्तु सैनिकों ने चन्दना को कौशाम्बी लाकर नीलाम कर दिया। सेठ धनावह उसे खरीद कर घर ले आया। सेठ धनावह का चन्दना पर अत्यधिक पवित्र स्नेह था, किन्तु उसकी पत्नी के मन में उत्पन्न होने वाली शंकाओं ने उसे चन्दना के प्रति ईर्ष्यालु बना दिया था। सेठानी ने चन्दना का सुन्दर केश कलाप कटवा दिया। उसके हाथ पैरों में हथकड़ी और बेड़ी डाल दी और उसे तहखाने में डाल दिया। धनावह को तीन दिन बाद चन्दना की इस दुर्दशा का पता लगा और तो उसके हृदय में करूणा उमड़ पड़ी। वह तुरन्त घर गया और उसने पाया कि समस्त खाद्य सामग्री ताले में बन्द है। अतः उसने कुछ दिनों के सूखे पड़े हुए बाकुले चन्दना को एक सूप में रखकर खाने को दिये।

चन्दना भोजन करने के लिये वह सूप लेकर बैठी ही थी कि श्रमण भगवान् महावीर का उस मार्ग से आगमन हुआ। भगवान् को भेंट करने की कामना उसके मन में भी प्रबल हो उठी। भगवान् महावीर ने तेरह बोलों का अभिग्रह किया था जिसमें यहां बारह बातें मिल गई किन्तु रूदन और अश्रु न होने से भगवान् लौट गये। भगवान् को लौटते देख चन्दना का धैर्य टूट गया और वह रोने लग गई। भगवान् ने जब चन्दनबाला को रोते हुए देखा और अपने अभिग्रह की समस्त शर्तें पूरी होती दिखाई दीं तो पुनः वापस लौटे। भगवान् के लौटने से चन्दनबाला को अपूर्व आनन्द हुआ और आभ्यान्तरिक हर्षभाव अत्यन्त कोमलता के साथ उसके मुखमण्डल पर प्रतिविम्बित हो गया। उसने श्रद्धा और भक्तिभाव के साथ भगवान् से आहार स्वीकार करने का निवेदन किया। भगवान् का अभिग्रह पूर्ण हो रहा था। भगवान् ने अपना कर-पात्र

चन्दना के सामने किया। अश्रु भीनी आंखों से और हर्षातिरेक से चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उड़द के सूखे बाकुले वहराये। भगवान् महावीर ने वहां पारणा किया। आकाश में आहोदानं की देव दुंदुभि वज उठी। पांच दिव्य प्रकट हुए। साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि हुई। चंदनबाला का सौन्दर्य भी अतिशय निखर उठा। उसकी लोह श्रृंखलाएं स्वर्ण आभूषणों में परिवर्तित हो गई। उसके मन में एक जागृति भी आयी। विगत कष्ट और अपमानपूर्ण जीवन का स्मरण कर उसके मन में वैराग्य के भाव जागृत हो गये। यही चन्दना आगे चलकर भगवान् महावीर की शिष्य मण्डली में एक प्रमुख साध्वी हुई।1

संयोग :

यह एक आश्चर्यजनक संयोग है कि भगवान् का प्रथम उपसर्ग भी एक ग्वाले से आरम्भ हुआ था और अंतिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा ही उपस्थित किया गया।

भगवान् के साधनाकाल में अनेक उपसर्ग आये किन्तु वे उपसर्गों में शान्त रहे, कभी भी उन्होंने रोष और द्वेष नहीं किया, विरोधियों के प्रति भी उनके हृदय में स्नेह का सागर उमड़ता रहा। वर्षा में, सर्दी में, धूप में, छाया में, आंधी और तूफान में भी उनका साधनादीप जगमगाता रहा। देव, दानव और पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी अदीनभाव से, अव्यथित मन से, अम्लान चित्त से, मन, वचन और काया को वश में रखते हुए सब कुछ सहन किया। वे वीर सेनानी की भांति निरन्तर आगे बढ़ते रहे, कभी पीछे कदम नहीं रखा।2

(१) १. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य., पृ. १४८-४६
 २. तीर्थंकर महावीर : पृष्ठ १११ से १२१
 ३. भगवान् महावीर : एक अनु., पृ. ३६१ से ३६५
 ४. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ. ७७८
२. (१) भगवान महावीर : एक अनु., पृ. ३७८
 (२) आचारांग, २।१५।३७, १।६।३।१३

तपश्चरण :

आचार्य भद्रबाहु के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर का तपः कर्म अन्य तेईस तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक उग्र और अधिक कठोर था।[1] यद्यपि उनका साधनाकाल बहुत लम्बा नहीं था, पर उपसर्गों की श्रृंखला ज्वालामुखी की भीषण ज्वालाओं की भांति एक के बाद एक उछालें मार मारकर संतप्त करती रही। उनके द्वारा आचरित तपः साधना की तालिका इस प्रकार है :[2]

छह मासिक तप-१	१८० दिन का
पांच दिन कम छह मासिक तप-१	१७५ दिन का
चातुर्मासिक तप-६	१२० दिन का एक तप
तीन मासिक तप-२	६० दिन का एक तप
सार्धद्वि मासिक तप-२	७५ दिन का एक तप
द्विमासिक तप-६	६० दिन का एक तप
सार्ध मासिक तप-२	४५ दिन का एक तप
मासिक तप-१२	३० दिन का एक तप
पाक्षिक तप-७२	१५ दिन का एक तप
भद्रप्रतिमा-१२	२ दिन का एक तप
महाभद्र प्रतिमा-१	४ दिन का एक तप
सर्वतोभद्र प्रतिमा-१	दश दिन का एक तप
सोलह दिन का तप-१	
अष्टम भक्त तप-१२	३ दिन का एक तप
षष्ट भक्त तप-२२६	दो दिन का एक तप

इसके अतिरिक्त दसम-भक्त (चार दिन का उपवास) आदि अन्य तपश्चर्याएँ भी कीं। प्रभु की तपश्चर्या निर्जल होती थीं और उसमें ध्यान योग की विशिष्ट प्रक्रियाएँ भी चलती रहती थीं।[3]

१. आव. निर्युक्ति, २६२

२. तीर्थंकर महावीर, पृ. १२८

३. (१) तीर्थंकर महावीर, पृ: १२८

(२) आव. निर्यु. ४१६

कुल मिलाकर भगवान् महावीर ने अपने साधक जीवन में ४५१५ दिनों में केवल ३४९ दिन आहार ग्रहण किया तथा ४१६६ दिन निर्जल तपश्चरण किया।[1]

भगवान् के दस-स्वप्न

विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते अनुपम ज्ञान, अनुपमदर्शन, अनुपम संयम, अनुपम निर्दोष वसति, अनुपम विहार, अनुपम वीर्य, अनुपम सरलता, अनुपम मृदुता, अपरिग्रह भाव, अनुपम क्षमा, अनुपम अलोभ, अनुपम ऋजुता, अनुपम प्रसन्नता, अनुपम सत्य, तप आदि सद्गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष पूर्ण हो गये। भगवान् महावीर पावा से चल कर जंभिय ग्राम के निकट, ऋजुवालका नदी के किनारे जीर्ण उद्यान के पास श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में सघन शाल-वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे।[2]

वैशाख शुक्ला दशमी की रात्रि, जो कि भगवान् महावीर के छद्मस्थकाल की अंतिम रात्रि थी, में केवल दो घड़ी के लिये द्रव्यनींद की झपक उन्हें लग गई। उसी झपक में भगवान् ने दश स्वप्न देखे।[3] यथा :

१. एक महा भयंकर जाज्वल्यमान ताड़ जितने लम्बे पिशाच को देखा, पराजित किया।
२. एक श्वेत पंखों वाले महापुंस्कोकिल को देखा।
३. एक विचित्र रंग के पंखों वाले महापुंस्कोकिल को देखा।
४. रत्नजड़ित दो बड़ी मालाओं को देखा।
५. श्वेत गायों के एक समूह को देखा।
६. कमल के फूलों से आच्छादित एक महान पद्मसरोवर को देखा।

१. भगवान् महावीर : एक अनु., पृ. ३७२
२. भगवान् महावीर : एक अनु., पृ. ३७३
३. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन, पृ. २४३

७. एक सहस्त्र तरंगी महासागर को अपनी भुजाओं से तैरकर पार करते हुए देखा ।

८. एक महान तेजस्वी सूर्य को देखा ।

९. मानुषेत्तर पर्वत को बेडूर्यमणिवर्ण वाली अपनी आंतों से परिवेष्टित देखा ।

१०. महान मेरू पर्वत की चूलिका पर स्वयं को सिंहासनस्थ देखा

दस स्वप्नों का फल

१. निकट भविष्य में भगवान् महावीर मोहनीय कर्मों को समूल नष्ट करेंगे ।

२. शीघ्र ही भगवान् शुक्ल ध्यान के अंतिम चरण में पहुंचेंगे ।

३. भगवान् विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे ।

४. भगवान् दो प्रकार के धर्म साधु-धर्म और श्रावक-धर्म का कथन करेंगे ।

५. भगवान् चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे ।

६. चार प्रकार के देव भगवान् की सेवा करेंगे ।

७. भगवान् संसार सागर को पार करेंगे ।

८. भगवान् केवलज्ञान प्राप्त करेंगे ।

९. भगवान् की कीर्ति समस्त मनुष्य लोक में फैलेगी ।

१०. भगवान् सिंहासनारूढ़ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे ।[1]

केवलज्ञान की प्राप्ति

वैशाख शुक्ला दशमी के दिन का अंतिम प्रहर था । उस समय भगवान् को छट्ठ भक्त की निर्जला तपस्या चल रही थी । आत्म मंथन चरमसीमा पर पहुंच रहा था, क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय हुआ फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय हुआ, इस प्रकार इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान केवलदर्शन प्रकट हुआ । भगवान् अब जिन और अरिहंत हो गये । सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये ।

१. स्थानांग सूत्र - मुनिश्री क०ला० कमल, पृ० ११०० से ११०३.

भगवान् महावीर को कैवल्य प्राप्त होते ही एक बार अपूर्व प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठा। दिशायें शान्त एवं विशुद्ध हो गई थीं, मन्द मन्द सुखकर पवन चलने लगी, देवताओं के आसन चलित हुए और वे दिव्य देव दुंदुभि का गंभीर घोष करते हुए भगवान् का कैवल्य महोत्सव मनाने पृथ्वी पर आये।[1]

प्रथम देशना :

देवताओं ने सुन्दर और विराट समवसरण की रचना की। तीर्थंकर नाम कर्म की निर्जरा देशना देने से ही होती है। इसलिये देशना के निष्फल जाने की बात को जानते हुए भी उन्होंने जीतव्यवहार, कर्त्तव्यपालन के लिये देशना दी। वहां मनुष्यों की उपस्थिति नहीं होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नहीं किया। तीर्थंकर का उपदेश व्यर्थ नहीं जाता किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया है।[2]

पावा में समवसरण :

भगवान् विहार करते हुए मध्यमापावा पधारे। वहां आर्य सोमिल द्वारा एक विराट यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमें अनेक उच्चकोटि के विद्वान आमंत्रित थे। भगवान् ने वहां के विहार को बड़े लाभ का कारण समझा। जब जंभिय गांव से आप पावापुरी पधारे तब देवों ने अशोक वृक्ष आदि महाप्रतिहार्यों से प्रभु की महती महिमा की। देवों द्वारा एक भव्य और विराट् समवसरण की रचना की गई। वहां देव-दानव और मानवों आदि की विशाल सभा में भगवान् उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए। मेघ-सम गम्भीर ध्वनि में भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तों के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर आत्मविभोर हो उठे। यहीं पर इन्द्रभूति गौतम तथा दस अन्य पंडित आये और अपनी शंकाओं का समाधान पाकर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् ने उनको

१. भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० ३७४
२. (१) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर पृ० २६२
   (२) स्थानांग, सू० ७७७
   (३) त्रिषष्टि०, १०।५।१०

"उप्पन्ने इवा, विगमे इवा, धुवे इवा" इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानों ने द्वादशांग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागमयी वाणी सुनकर एक ही दिन में इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पांचों के पांच पांच सौ, छट्ठे सातवें के साढ़े तीन तीन सौ और शेष अंतिम चार पंडितों के तीन तीन सौ छात्र थे। इस प्रकार कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म संघ में राजकुमारी चंदनबाला प्रथम साध्वी बनी। शंख, शतक आदि ने श्रावक धर्म और सुलसा आदि ने श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार मध्यम पावा-पुरी का वह 'महासेनवन' और वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा देकर साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और स्वयं भाव तीर्थंकर कहलाये।[1]

धर्म संघ :

साधना की दृष्टि से भगवान् महावीर के धर्म संघ में तीन प्रकार के साधक थे :—

१. प्रत्येक बुद्ध – जो प्रारम्भ से ही संघीय मर्यादा से मुक्त रहकर साधना करते रहते।

२. स्थविरकल्पी– जो संघीय मर्यादा एवं अनुशासन में रहकर साधना करते।

३. जिनकल्पी – जो विशिष्ट साधना पद्धति अपनाकर संघीय मर्यादा से मुक्त होकर तपश्चरण आदि करते।

१. १. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २६३ से २६६
   २. चउप्प० महा० च० पृ० २६६ से ३०३
   ३. महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित) १५६४
   ४. समवायांग, पृ० ५७
   ५. भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० ३७६ से ४१२

प्रत्येक बुद्ध एवं जिनकल्पी स्वतंत्र विहारी होते थे इसलिए उनके लिए किसी अनुशासक की अपेक्षा ही नहीं थी। स्थविरकल्पी संघ में रहकर एक पद्धति के अनुसार एक व्यवस्था के अनुसार जीवन-यापन करते थे। अतः उनके लिए सात विभिन्न पदों की व्यवस्था भी थी :–

१. आचार्य (आचार की विधि सिखाने वाले)

२. उपाध्याय (श्रुत का अभ्यास कराने वाले)

३. स्थविर (वय, दीक्षा एवं श्रुत से अधिक अनुभवी)

४. प्रवर्तक (आज्ञा अनुशासन की प्रवृत्ति कराने वाले)

५. गणी (गण की व्यवस्था का संचालन करने वाले)

६. गणधर (गण का सम्पूर्ण उत्तरदायी)

७. गणावच्छेदक (संघ की संग्रह-निग्रह आदि व्यवस्था के विशेषज्ञ)

ये संघीय जीवन में शिक्षा, साधना, आचार मर्यादा, सेवा, धर्म-प्रचार विहार आदि विभिन्न व्यवस्थाओं को संभालते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतनी सुन्दर और विशाल संघीय व्यवस्था का मूल आधार अनुशासन और वह भी स्वप्रेरित आत्मानुशासन अर्थात् स्व-अनुशासन था। संघ की इस प्रकार की समाचारी में एक समाचारी है—इच्छाकार। इसे हम इच्छायोग कह सकते हैं। कोई श्रमण से कुछ सेवा लेते या आदेश देते तो उसके पूर्व कहते—"आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करें।"

सेवा करने वाला या आदेश का पालन करने वाला श्रमण भी यह नहीं समझता कि मुझे ऐसा करना पड़ रहा है किन्तु प्रसन्नता और आत्मीय भाव के साथ वह रहता, "इच्छामि णं भंते। "भंते! मैं आपकी सेवा करना चाहता हूं।"

अनुशासन के नाम पर व्यक्ति की इच्छा, भावना या स्वतन्त्रता की हत्या वहां नहीं होती थी। तभी तो हम भगवान् महावीर के धर्म संघ को आध्यात्मिक अनुशासन का (आत्मानुशासन) का एक विकसित और सर्वोत्कृष्ट आदर्श मान सकते हैं।

भगवान् महावीर ने गणतंत्रीय पद्धति पर विशाल धर्म संघ की स्थापना करके उस युग में एक विस्मयजनक उदाहरण प्रस्तुत किया था। लोगों की आमधारणा थी कि जैसे सिंह वन में अकेला स्वेच्छापूर्वक घूमा करता है, वैसे ही साधक अकेले स्वेच्छया भ्रमणशील होते हैं। सिंहों का समूह नहीं होता साधकों का संघ नहीं होता। वैदिक परम्परा के हजारों तापस संन्यासी उस समय विद्यमान थे किन्तु किसी ने संघ की विधिवत् स्थापना की हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यहां तक कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के भी अनेक श्रमण विविध समूहों में इधर उधर जनपदों में विचरते थे और उनका भी कोई एक व्यवस्थित संघ नहीं था। इस दृष्टि से भगवान् महावीर द्वारा धर्म संघ की स्थापना आम जनता की दृष्टि में एक अनोखी और नवीन घटना थी। उनकी विनय-प्रधान और आत्मानुशासन की आधार भूमि लोगों में और भी आश्चर्य उत्पन्न करती थी। उस धर्म संघ में जब स्त्रियों को भी पुरूषों के समान स्थान, सम्मान और ज्ञान का अधिकार मिला, तो संभवतः युग-चेतना में एक नई क्रांति मच गई होगी। आर्या चन्दनबाला के नेतृत्व में जब अनेक राज-रानियां, राजकुमारियां और सद्गृहणियां दीक्षित होकर आत्मसाधना के कठोर मार्ग पर अग्रसर होने लगी तो चारों ओर सहज ही एक नया वातावरण बना, नारी जाति में ही नहीं, किन्तु पुरूष वर्ग में भी भगवान् महावीर के इस समता-मूलक शासन की ओर आकर्षण बढ़ा, आत्म-साधन की भावना प्रखर होने लगी और वे इस ओर खिचे-खिचे आने लगे।

धर्म संघ की स्थापना कर भगवान् महावीर ने सर्वप्रथम राजगृह की ओर प्रस्थान किया।[1]

धर्म प्रचार :

केवली बनकर भगवान् महावीर ने आत्म-कल्याण से ही संतोष नहीं कर लिया न ही धर्मानुशासन व्यवस्था निर्धारित कर वे पीठाध्यक्ष बनकर विश्राम करते रहे। परमानन्द का जो मार्ग उन्हें प्राप्त हो गया था, अब उनका लक्ष्य तो उसका प्रचार कर सामान्य जन को आत्म-कल्याण का लाभ पहुंचाना था अतः भगवान् महावीर ने अपना शेष जीवन धर्मोपदेश में व्यतीत करते हुए

१. तीर्थंकर महावीर, पृ० १४३-४४

जनता का मार्गदर्शन करने में बिताया। लगभग तीस वर्षों तक उन्होंने गांव-गांव और नगर-नगर विचरण किया और असंख्य लोगों को प्रतिबोध दिया।

भगवान् महावीरस्वामी क्रान्तदर्शी थे। उन्हें देशकाल की परिस्थितियों का सूक्ष्म ज्ञान था। उन्होंने अनुभव किया कि तत्कालीन धर्मक्षेत्र विभिन्न मत-मतान्तरों में बंटा हुआ है और परस्पर कलह ग्रस्त भी है। ये विभिन्न वर्ग 'अतिवाद' के भयंकर रोग से भी ग्रस्त हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् ने अनेकान्तवाद का प्रचार किया। उनके उपदेशों में समन्वय का भाव होता था कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य होती है और न ही एकान्त अनित्य। स्वर्ण एक पदार्थ का नित्य रूप है, विभिन्न आभूषणों के निर्माण द्वारा उसका वलयाकार इत्यादि परिवर्तित होता रहता है, तथापि मूलत: तो भीतर से वह स्वर्ण ही रहता है। आत्मा, पुद्गल आदि की भी यही स्थिति रहती है। मूलत: अपने एक ही स्वरूप का निर्वाह करते हुए भी उनके बाह्य स्वरूप में कतिपय परिवर्तन होते रहते हैं। मात्र इसी कारण एकान्तवादी होकर पारस्परिक विरोध रखना अनुचित है। उनका कहना था कि परम्परा और नवीन में से किसी का भी अंधानुकरण व्यर्थ है। उनका आदर सत्य के प्रति था। उनका यह भी कहना था कि जिसे हम सत्य और उचित माने उसी का व्यवहार करना चाहिए। भगवान् के इन सिद्धांतों से लोगों में एकता के भाव जागृत होने लगे और लोग परस्पर समीप आने लगे।

भगवान् महावीर के उपदेशों में अहिंसा एवं अपरिग्रह भी मुख्य तत्व थे। सभी धर्मों में हिंसा का निषेध कर अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है फिर भी उस समय यज्ञ के नाम पर पशुबलि की प्रथा प्रचलित थी जो व्यापक हिंसा का ही रूप थी। भगवान् महावीर ने इस हिंसा को दु:ख देने वाली बताया उनकी अहिंसा का रूप व्यापक था। वे मानव, पशु-पक्षी ही नहीं, वनस्पति तक को कष्ट पहुंचाने में हिंसा मानते थे। इसीलिए उन्होंने अहिंसा को परम-धर्म की संज्ञा दी। उनका कहना था कि जब हम किसी को प्राण-दान नहीं दे सकते तो किसी के प्राणों का हरण करने का हमें क्या अधिकार है? दया, क्षमा, करूणा आदि के महत्व को प्रतिपादित करते हुए हिंसा का जितना व्यापक विरोध भगवान् महावीर ने किया था वह मानव इतिहास में अभूतपूर्व है, अद्वितीय है।

मनुष्य की संग्रहवृत्ति और लोभ का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह सिद्धांत का प्रतिपादन किया। संग्रहवृत्ति और लोभी प्रवृत्ति ने ही समाज में वर्ग-विषमता और दैन्य की उत्पत्ति की है। भगवान् ने इच्छाओं, लालसाओं और आकांक्षाओं के परिसीमन का प्रभावशाली उपदेश दिया और आवश्यकता से अधिक सामग्री के त्याग की प्रेरणा दी। भगवान् के उपदेश का दीन-हीनों पर यह प्रभाव भी हुआ कि वे श्रमशील और कर्मनिष्ठ बनने लगे। इससे एक अद्भुत साम्य समाज में स्थापित होने लगा था।

भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित भाग्यवाद का भी खुलकर विरोध किया। उस समय सामान्यतः लोग ऐसा मानते थे कि ईश्वर जिसे जिस स्थिति में रखना चाहता है वह वैसा ही बना रहता है। ईश्वर की इस व्यवस्था में मनुष्य कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मनुष्य तो भाग्य के अधीन है, वह जैसा चाहे वैसा स्वयं को नहीं बना सकता। भगवान् महावीर ने इस भ्रांत धारणा का विरोध कर वास्तविकता से जनसामान्य को परिचित करवाया। सुख और दुःख वाली परिस्थितियां तो मनुष्य के पूर्वजन्म में किये कर्मों का प्रतिफल हैं। अपने लिए भावी सुख की नींव मनुष्य स्वयं रख सकता है और शुभ कर्म करना उसका साधन है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

भगवान् महावीर का कर्मवाद यह सिद्धांत भी रखता है कि किसी की श्रेष्ठता का निश्चय उसके वंश से नहीं अपितु उसके कर्मों से ही होता है। कर्मो से ही कोई महान या उच्च हो सकता है और कर्मों से ही नीच या पतित। इस प्रकार भगवान् ने जातिवाद पर आधारित झूठे अहं को निर्मूल कर सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा की।

भगवान् बहुधा यह शिक्षा भी दिया करते थे कि नैतिकता, सदाचार और सद्भाव ही किसी मनुष्य को मानव कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। धर्मशून्य मनुष्य प्राणी तो होगा किन्तु मानवोचित सद्गुणों के अभाव में उसे मानव नहीं कहा जा सकता।

अपने इन्हीं कतिपय सिद्धांतों का प्रचार कर भगवान् ने धर्म को संकुचित परिधि से मुक्त कर उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध कर दिया। श्रेष्ठ जीवनादर्शों का समुच्चय ही धर्म के रूप में उनके द्वारा स्वीकृत हुआ। भगवान्

के सदुपदेशों का व्यापक और गहरा प्रभाव हुआ। परिणामतः जहाँ मनुष्य को आत्म-कल्याण का मार्ग मिला, वहीं समाज भी प्रगतिशील और स्वच्छ हुआ। स्त्रियों के लिये भी आत्मोत्कर्ष के मार्ग को भगवान् ने प्रशस्त किया और उन्हें समान स्तर पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार व्यक्ति और समग्र दोनों को भगवान् की प्रतिभा व ज्ञान गरिमा से लाभान्वित होने का सुयोग मिला। अपने सर्वजन-हिताय और विश्व मानवता के दृष्टिकोण के कारण भगवान् अपनी समग्र केवलीचर्या में सतत् भ्रमणशील ही बने रहे और अधिकाधिक जन के कल्याण के लिये सचेष्ट रहे।[1]

भगवान् महावीर के केवलीचर्याकाल की कुछ विशिष्ट घटनाओं का यहां संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है :-

ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध :

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान् ब्राह्मणकुण्ड पहुंचे और पास के 'बहुशाल' चैत्य में विराजमान हुए। भगवान् के आने की खबर सुनकर पण्डित ऋषभदत्त, देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वंदना को निकला और भगवान् की सेवा में पहुंचा।

भगवान् को देखते ही देवानंदा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्द मग्न एवं पुलकित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। नेत्र हर्षाश्रु से डबडबा आये। गौतम के पूछने पर भगवान ने कहा-"यह मेरी माता है, पुत्र स्नेह के कारण इसे रोमांच हो उठा है।" भगवान की वाणी सुनकर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनों ने

१. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्य०, पृ० १२५ से १५४ विस्तृत अ हेतु साहित्य एवं न् महावीर से संबंधित साहित्य देखें साथ ही १. भगवान् महावीर : एक अनुशीलन, २. तीर्थंकर महावीर ३. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर ४. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन ५. तीर्थंकर चरित्र भाग ३ का भी अवलोकन करें।

ग्यारह अंगों का अध्ययन किया एवं विचित्र प्रकार के तप, व्रतों से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की ।[1]

भगवान् महावीर के जामाता राजकुमार जामालिक और पुत्री प्रियदर्शना ने भी भगवान के चरणों में क्रमशः ५०० क्षत्रिय कुमारों तथा एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।[2] यह भगवान की केवलीचर्या का दूसरा वर्ष था ।

मृगावती की प्रव्रज्या :

यह घटना भगवान् के केवलीचर्या काल के आठवें वर्ष की है। वर्षाकाल के पश्चात कुछ दिनों तक राजगृह में विराजकर भगवान् 'आलंभिया' नगरी में ऋषि भद्र पुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और मृगावती को संकटमुक्त किया। क्योंकि मृगावती के रूप लावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी रानी बनाने के लिये कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदायन की लघुवय होने से उस समय चण्डप्रद्योत को भुलावे में डालकर रानी मृगावती ही राज्य का संचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुनकर वह वन्दन करने गई और त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुनकर प्रव्रज्या लेने को उत्सुक हुई और बोली—"भगवन् ! चण्डप्रद्योत की आज्ञा लेकर मैं श्रीचरणों में प्रवज्या लेना चाहती हूं।" उसने वहीं पर चण्डप्रद्योत से जाकर अनुमति के लिये कहा। चण्डप्रद्योत भी सभा में लज्जावश मना नहीं कर सका और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील संकट सदा के लिये टल गया।[3]

केवलीचर्या का तेरहवां वर्ष :

वर्षाकाल की समाप्ति के पश्चात् भगवान चम्पा पधारे और वहां के 'पूर्णभद्र' उद्यान में विराजमान हुए। चम्पा में उस समय 'कौणिक' का राज्य था।

(१) १. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर, पृ० २६६
२. भगवतीशतक, ६।३३।३८०, ६।६।३८२

(२) १. भगवती , ६।३३।३८४, ६।३।६
२. त्रिषष्टि, १०।८।३६

(३) (i) ऐति. काल के तीन तीर्थं०, पृ० २७६, (ii) आव. चू., पृ. १ पृ. ६१

भगवान् के आगमन की बात सुनकर कौणिक वंदन करने गया। कौणिक ने भगवान् के कुशल समाचार जानने की बड़ी व्यवस्था कर रखी थी। अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् के विहार के समाचार सुनकर ही वह प्रतिदिन भोजन करता था। भगवान् ने कौणिक आदि उपस्थित जनों को धर्म देशना दी। देशना से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थों ने मुनिधर्म स्वीकार किया। उनमें श्रेणिक के निम्नलिखित दस पौत्र भी थे :–

१. पद्म, २. महापद्म, ३. भद्र, ४. सुभद्र, ५. महाभद्र, ६. पद्मसेन ७. पद्मगुल्म, ८. नलिनी गुल्म, ९. आनन्द और १०. नन्दन।1 इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमण धर्म अंगीकार किया। यहीं पर पालित जैसे बड़े व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था।2

भगवान् की रोग मुक्ति :

जिस समय भगवान् सालकोष्ठक चैत्य में विराज रहे थे, गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के निमित्त से भगवान् के शरीर में असाता का उदय हुआ जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीड़ा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की बाधा भी हो रही थी पर भगवान् इस विकट वेदना में भी शांत भाव से सब कुछ सहन करते रहे। मेढ़ियाग्राम की रेवती नामक महिला द्वारा बिजोरापाक नामक औषधि प्रदान की गई जिसके सेवन करने से भगवान् रोगमुक्त हुए।3

दशार्णभद्र को प्रतिबोध :

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहां का महाराजा भगवान् का परम् भक्त था। उसने बड़ी ही धूमधाम से भगवान् के वंदन की तैयारी की और चतुरंग सेना और राजपरिवार सहित सजधजकर वन्दन करने के लिये निकला। उसके मन में विचार आया कि मेरी तरह इतनी बड़ी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिये कौन आयेगा ? इतने में सहसा गगनमण्डल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर उसकी दृष्टि पड़ी तो उसका

१. निरयावलिका, २
२. ऐति. काल के तीन तीर्थंकर. पृ. २८१
३. भा०श० १५ स० ५५७

गर्व चूर चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्काल ही दीक्षा ग्रहण कर ली और श्रमण संघ में स्थान प्राप्त कर लिया। देवेन्द्र जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्‌भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ और उनका अभिवादन कर स्वर्ग लोक की ओर चला गया।[1]

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना :

जब भगवान् महावीर के परिनिर्वाण का समय निकट आया तो शकेन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। वह देव-परिवार सहित वहां उपस्थित हुआ। उसने भगवान् महावीर को नम्र निवेदन करते हुए कहा-"भगवन् ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान में हस्तोत्तरा नक्षत्र था। इस समय उसमें भस्मग्रह संक्रांत होने वाला है। वह ग्रह आपके जन्म नक्षत्र में आकर दो हजार वर्षों तक आपके जिन शासन के प्रभाव के उत्तरोत्तर विकास में अत्यधिक बाधक होगा। दो हजार वर्षों के बाद जब वह आपके जन्म नक्षत्र से अलग होगा, तब श्रमणों का, निर्ग्रन्थों का उत्तरोत्तर पुनः विकास होगा। उनका सत्कार और सम्मान होगा। एतदर्थ जब तक वह आपके जन्म नक्षत्र में संक्रमण कर रहा है, तब तक आप अपना आयुष्य बल स्थिर रखें, आपके प्रबल प्रभाव से यह सर्वथा निष्फल हो जायगा।"

भगवान ने कहा-" शक्र ! आयुष्य कभी बढ़ाया नहीं जा सकता। ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा। दुःषमा काल के प्रभाव से जिन शासन में जो बाधा होती है। वह तो होगी ही।"[2]

धर्म-परिवार :

गणधर एवं गण	—	११ गणधर एवं ९ गण
केवली	—	७००
मनःपर्यवज्ञानी	—	५००
अवधिज्ञानी	—	१३००

१. (१) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर पृ. ३०४
(२) त्रिषष्टि; १०।१०.

२. भगवान् महावीर : एक अनु०, पृ० २९७-९८

चौदहपूर्वधारी	—	३००
वादी	—	४००
वैक्रिय लब्धिधारी	—	७००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	—	८००
साधु	—	१४०००
साध्वी	—	३६०००
श्रावक	—	१५६०००
श्राविकाएँ	—	३१८०००

इनके अतिरिक्त भी भगवान् के लाखों भक्त थे

अंतिम देशना और महापरिनिर्वाण :

निर्वाणकाल में भगवान् महावीर षष्ठ भक्त (बेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे। उस देशना में ५५ अध्ययन पापफल विपाक के और ५५ अध्ययन पुण्यफल विपाक के कहे। जो वर्तमान में दुःख विपाक और सुख विपाक के रूप में क्रमशः दस दस अध्ययन उपलब्ध होते हैं। शेष अध्ययन विच्छिन्न हो गये हैं। छत्तीस अध्ययन अपृष्ट व्याकरण के कहे, जो इस समय उत्तराध्ययन आगम के रूप में विश्रुत हैं। सैंतीसवां प्रधान नामक अध्ययन कहते कहते भगवान् पर्यंकासन में स्थिर हो गये। भगवान् ने वादर काय योग में स्थिर रहकर बादर मनोयोग, बादर वचन योग का निरोध किया। फिर सूक्ष्म काय योग में स्थित रहकर बादर काय योग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्ल ध्यान के 'शूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति' नामक तृतीय चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काय योग का निरोध किया और 'समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति' नामक शुक्ल ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त किया। पुनः अ,इ,उ,ऋ,लृ, के उच्चारण काल जितनी शैलेशी-अवस्था को प्राप्त कर चतुर्विध अघाती कर्म-फल का क्षय कर भगवान् महावीर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

वह वर्षा ऋतु का चौथा मास था, कृष्ण पक्ष था, पन्द्रहवां दिन था, पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी। एक युग के पांच संवत्सर होते हैं। उनमें यह चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर था। एक वर्ष के बारह महीने होते हैं, वह प्रीतिवर्द्धन नामक चतुर्थ मास था। एक मास में दो पक्ष होते हैं, वह नन्दीवर्धन नाम का पक्ष था। एक पक्ष मे पन्द्रह दिन होते हैं, उनमें अग्निवैश्य नामक पन्द्रहवां दिन था, जो

उपशय नाम से भी कहा जाता है। पक्ष में पन्द्रह रातें होती हैं, वह देवानन्दा नामक पन्द्रहवीं रात थी, जो निरति नाम से भी विश्रुत थी। उस समय मर्च नामक लव था, मुहूर्त नाम का प्रण था, सिद्ध नाम का स्तोक था, नाग नाम का करण था। एक अहोरात्र में तीस मुहूर्त होते हैं, उनमें सर्वार्थ सिद्ध नामक मुहूर्त था। उस समय स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था।1

गौतम को केवलज्ञान :

भगवान् महावीर ने परिनिर्वाण के पूर्व ही अपने प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम को देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिये दूसरे स्थान पर भेज दिया। इसका कारण यह था कि निर्वाण के समय वह अधिक स्नेहाकुल न हो। देवशर्मा को प्रतिबोध देकर इन्द्रभूति लौटना चाहते थे किन्तु रात्रि होने से लौट नहीं सके। जब गौतम को भगवान् के परिनिर्वाण के समाचार प्राप्त हुए तब उनके श्रद्धा स्निग्ध हृदय पर वज्राघात-सा प्रहार लगा। उनके हृदय के तार झनझना उठे—"भगवन्! आप सर्वज्ञ थे फिर यह क्या किया? अपने अंतिम समय में मुझे अपने से दूर क्यों किया? क्या मैं बालक की भांति आंचल पकड़कर आपको रोकता? क्या मेरा स्नेह सच्चा नहीं था? क्या मैं आपके साथ ही जाता तो वहां का स्थान रोकता? अब मैं किसके चरणों में नमस्कार करूंगा और अपने मन की शंकाओं का सही समाधान करूंगा? अब मुझे कौन गौतम! गौतम कहकर पुकारेगा।"

भाव विह्वलता में बहते बहते गौतम ने अपने आपको संभाला, चिंतन बदला, यह मेरा कैसा मोह है? भगवान् तो वीतराग हैं, उनमें कहां स्नेह है, यह मेरा एक पक्षीय मोह है, मैं स्वयं उस पथ का पथिक क्यों न बनूं? इस प्रकार चिंतन करते हुए उसी रात्रि के अन्त में स्थित प्रज्ञ हो गौतम ने क्षणमात्र में मोह को क्षीण किया, केवलज्ञान के दिव्य आलोक से अन्तरलोक आभासित हो उठा।2

दीपोत्सव :

जिस रात्रि को भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उस रात्रि को नौ मल्लकी,

1. (1) महावीर : एक अनु०, पृ० ५९८-९९
   (2) ऐति० काल के तीन तीर्थंकर, पृ० ३३४ से ३३६
2. महावीर - एक अनु०, पृ० ५९९-६००

नौ लिच्छवि, अठारह काशी कौशल के राजा पौषध व्रत में थे। उन्होंने कहा—
"आज संसार से भाव-उद्योत उठ गया है, अतः हम द्रव्य-उद्योत करेंगे।"

जिस रात्रि को भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उस रात्रि को देव-देवेन्द्रों के गमनागमन से भूमण्डल आलोकित हुआ, अंधकार मिटाने के लिये मानवों ने दीप संजोये। इस प्रकार दीपमाला का पुनीत पर्व प्रारम्भ हुआ।[1]

निर्वाण कल्याणक :

भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ जानकर सुर और असुरों के सभी इन्द्र अपने अपने परिवार के साथ वहां पहुंचे। वे सभी अपने आपको अनाथ के समान अनुभव कर रहे थे। सभी का हृदय भावविह्वल हो रहा था। शक्र के आदेश से गोशीर्ष चन्दन और क्षीरोदक लाया गया। क्षीरोदक से भगवान् के पार्थिव शरीर को स्नान कराया गया, गोशीर्ष चन्दन का लेप किया गया। दिव्य वस्त्र ओढ़ाया गया। उसके पश्चात् भगवान् के पार्थिव शरीर को शिविका में रखा गया।

देवों ने दिव्य ध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा की। इन्द्रों ने शिविका उठाकर यथास्थान पहुंचाई। भगवान् महावीर के पार्थिव शरीर को गोशीर्ष चन्दन की चिता पर रखा गया। अग्निकुमार देवों ने अग्नि प्रज्वलित की और वायुकुमार देवों ने वायु प्रचालित की। अन्य देवों ने घी और शहद चिता में उंडेले। इस प्रकार भगवान् के शरीर की दाहक्रिया सम्पन्न की गई। फिर मेघकुमार ने जल-वृष्टि कर चिता को शान्त किया। शकेन्द्र ने ऊपर की दाईं दाढ़ों का और ईशानेन्द्र ने बांई दाढ़ों का संग्रह किया। इसी प्रकार चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ों को लिया। अन्य देवों ने दांत और अस्थिखण्डों को लिया। मानवों ने भस्म ग्रहण कर संतोष का अनुभव किया।[2] भगवान् महावीर का निर्वाण-काल गणना की दृष्टि से कार्तिक अमावस्या ई० पू० ५२७ माना जाता है।

१. १. भगवान् महावीर : अनु०, पृ० ६००
   २. त्रिषष्टि०, १०।१३।२४७-२४८
   ३. कल्पसूत्र, १२७
   ४. चउ० महा० चरियं, पृ० ३३४

२. (१) महावीर : एक अनु०, पृ० [illegible]
   (२) त्रिषष्टि०, १०।१३।२४९-२५१

भगवान् महावीर की आयु :

भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहस्थावस्था में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थावस्था में साधना की और तीस वर्ष में कुछ कम केवली बनकर विचरण करते रहे। इस प्रकार पूर्णरूप से बयालीस वर्ष का संयम पालकर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में निर्वाण को प्राप्त हुए। समवायांग के अनुसार भी भगवान् बहत्तर वर्ष का सब आयु भोगकर सिद्ध हुए।[1] स्थानांग के अनुसार बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और तेरह पक्ष कम तीस वर्ष केवली रूप में रहे।[2] इसमें तीस वर्ष गृहस्थावस्था के सम्मिलित करने से सर्वायु बहत्तर वर्ष प्रमाणित होती है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास :

वर्ष	ईस्वी पूर्व	स्थान
१	५६९	अस्थिक ग्राम
२	५६८	नालन्दा सन्निवेश
३	५६७	चम्पानगरी
४	५६६	पृष्ठचंपा
५	५६५	भद्दियानगरी
६	५६४	भद्दियानगरी
७	५६३	आलंभिया
८	५६२	राजगृह
९	५६१	वज्रभूमि
१०	५६०	श्रावस्ती
११	५५९	[illegible]
१२	५५८	चम्पा

१. समवायांग, , ७२

२. स्था० ९ स्था०, ३१ सू० ६९३

१३	५५७	राजगृह-ऋजुवालुका के तट पर केवलज्ञान प्राप्ति
१४	५५६	वैशाली
१५	५५५	वाणिज्यग्राम
१६	५५४	राजगृह
१७	५५३	वाणिज्यग्राम
१८	५५२	राजगृह
१९	५५१	राजगृह
२०	५५०	वैशाली
२१	५४९	वैशाली
२२	५४८	राजगृह
२३	५४७	वाणिज्यग्राम
२४	५४६	राजगृह
२५	५४५	राजगृह
२६	५४४	चम्पा
२७	५४३	मिथिला
२८	५४२	वाणिज्यग्राम
२९	५४१	राजगृह
३०	५४०	वाणिज्यग्राम
३१	५३९	वैशाली
३२	५३८	वैशाली
३३	५३७	राजगृह
३४	५३६	नालन्दा
३५	५३५	वैशाली
३६	५३४	वैशाली
३७	५३३	राजगृह

३८	५३२	नालन्दा
३९	५३१	मिथिला
४०	५३०	मिथिला
४१	५२९	राजगृह
४२	५२८	अपापापुरी (पावा)

वास्तव में भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ईस्वी पूर्व ५२८, नवम्बर तदनुसार विक्रम पूर्व ४७१ तथा शक पूर्व ६७५ वर्ष ५ मास में हुआ । किन्तु चूंकि नवम्बर, वर्ष का ११ वां महीना था, अतः सन् ५२८ ई० पू० पूर्ण हो रहा था, अतः गणना में सुविधा की दृष्टि से महावीर का निर्वाण काल ई० पू० ५२७ तथा वि० पू० ४७० मान लिया गया है । देखें-वीर निर्वाण संवत और जैनकाल गणना (मुनि कल्याण विजयजी) तथा आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (मुनि नगराजजी) पृ० ६५ ।1

विशेष :

जैनधर्म में दश आश्चर्य माने गये हैं । इन दश आश्चर्यों में से आधे अर्थात् पांच आश्चर्य भगवान् महावीर के समय घटित हुए । यह भी अपने आप में एक आश्चर्य ही है । भगवान् महावीर के समय जो पांच आश्चर्यजनक घटनाएँ घटित हुई उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

१. गर्भहरण :

तीर्थंकर का गर्भहरण नहीं होता पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ । इस विषय में पूर्व में प्रकाश डाला जा चुका है ।

२. चमर का उत्पात :

पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ । इन्द्र बनने के बाद उसने अपने ऊपर शकेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोगों का उपभोग करते देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिये। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देवलोक में उत्पात मचाया इस

1. तीर्थंकर महावीर, पृ० २५२–२५३

पर शकेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका । चमरेन्द्र भयभीत हो भगवान् के चरणों में आ गिरा । शकेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण में जानकर बड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड़ कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी ।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहंत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है । इस प्रकरण पर भी पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है ।

३. अभाविता परिषद् :

तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे सुनकर भोग मार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते हैं । किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम् देशना में किसी ने भी चारित्र धर्म स्वीकार नहीं किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है । इस प्रकरण पर भी पूर्व में प्रकाश डाला जा चुका है ।

४. चन्द्र-सूर्य का उतरना :

सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते हैं पर मूल विमान से नहीं। किन्तु कौशाम्बी में भगवान् महावीर के दर्शन के लिये चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये ।[1] गुणचन्द्र के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवसरण में उस समय आये जब सती मृगावती भी वहां बैठी हुई थी । रात होने पर भी उसे चन्द्र-सूर्य की उपस्थिति के प्रकाश से ज्ञात नहीं हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने वहीं बैठी रही । जब चन्द्र-सूर्य चले गए तब वह अपने स्थान पर गई तब सती चन्दनबाला ने उसे उपालम्भ दिया । मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया ।[2] जब पता चला कि महासती मृगावती को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है तो आर्या चन्दन बाला भी उनकी स्तुति और आत्म-निरीक्षण में ऐसी लीन हुई कि भावों की क्षपक श्रेणी पर चढ़कर सहसा चार

१. आव० नियु०, गा० ५१८ पत्र १०५
२. महावीर चरियं० प्रस्ता० पत्र १७५

घनघाती कर्मों का क्षय कर डाला ।1 इस प्रकार एक ही रात्रि में दो महासतियों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

५. उपसर्ग :

श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर दिया । भगवान् पर भी उसने तेजोलेश्या का उपसर्ग किया ।2

गणधर परिचय :

मध्यमपावा के समवसरण में जिन ग्यारह विद्वानों ने भगवान् के समक्ष अपनी शंका समाधान करके दीक्षा ली थी । ये विद्वान भगवान् के प्रथम शिष्य कहलाये । ये अपनी असाधारण विद्वत्ता, अनुशासन कुशलता तथा आचार दक्षता के कारण भगवान् के गणधर बने । गणधर भगवान् के संघ के स्तम्भ होते हैं । ये कुशल शब्दशिल्पी भी होते हैं । भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों का परिचय संक्षिप्त रूप में निम्नानुसार दिया जा सकता है :

१ इन्द्रभूति गौतम :

इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य और प्रथम गणधर थे । ये मगध देशान्तर्गत 'गोवर' ग्राम के निवासी थे । इनके पिता का नाम वसुभूति ब्राह्मण और माता का नाम पृथ्वी था । इनका गोत्र गौतम माना जाता है । ये वेद-वेदान्त के अध्येता थे । आत्मा विषयक संशय का समाधान पाकर इन्होंने अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के सम्मुख दीक्षा ग्रहण की ।

दीक्षा के समय इनकी आयु पचास वर्ष थी । ये सुन्दर, सुडौल और सुगठित शरीर के स्वामी थे । आप में विनय गुण प्रधान था । भगवान् के निर्वाण के पश्चात् आपको केवलज्ञान प्राप्त हुआ । आप तीस वर्ष छद्मस्थ

१. (१) , नि० गा० १०४८
(२) दश वैकालिक, निर्युक्ति १।७३
२. ऐति० काल के तीन तीर्थंकर पृ० २०८

भाव से एवं बारह वर्ष केवली रूप में विचरे । अपने अंतकाल के निकट में इन्होंने गुणशील चैत्य में एक माह के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया । आपकी कुल आयु बानवे वर्ष की थी ।

२ अग्निभूति :

ये इन्द्रभूति के मंझले भ्राता थे । छियालीस वर्ष की आयु में पुरुषाद्वैत की शंका निवारण होने पर भगवान् महावीर की सेवा में पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की । बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया । सोलह वर्ष तक केवली पर्याय में विचरण किया और भगवान् महावीर के निर्वाण के दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया । आपकी कुल आयु चौहत्तर वर्ष की थी ।

३ वायुभूति :

ये इन्द्रभूति और अग्निभूति के छोटे भाई थे । इन्होंने भी महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का बोध पाकर अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण की । उस समय इनकी आयु बयालीस वर्ष की थी । दश वर्ष छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरे भगवान् महावीर के निर्वाण के दो वर्ष पूर्व इन्होंने एक मास के अनशन से सत्तर वर्ष की आयु में गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया ।

४ आर्यव्यक्त :

इनके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था । ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे । ये कोल्लागसन्निवेश के निवासी थे । इन्होंने पचास वर्ष की अवस्था में ब्रह्म विषयक शंका का समाधान होने पर भगवान् महावीर की सेवा में अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी । बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया फिर अठारह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरते रहे । राजगृही के गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से अस्सी वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया ।

५ सुधर्मा :

इनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था। ये कोल्लागसन्निवेश के वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। जन्मान्तर विषयक अपनी शंका का समाधान पाकर इन्होंने भगवान् महावीर के पास अपने पांच सौ शिष्यों सहित दीक्षा ग्रहण की। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् संघ व्यवस्था का नेतृत्व आपके पास रहा। भगवान् महावीर के निर्वाण के बीस वर्ष पर्यन्त तक ये संघ की सेवा करते रहे। बयालीस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और आठ वर्ष तक केवलीचर्या में रहकर धर्म प्रचार किया। आपने पचास वर्ष गृहस्थावस्था में व्यतीत किये थे। इस प्रकार कुल एक सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर राजगृह के गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया।

६ मंडित :

इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजयादेवी था। ये मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इन्होंने ५३ वर्ष की आयु में अपने तीन सौ पचास शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में आत्मा का सांसारित्व समझकर दीक्षा स्वीकार की। चौदह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। सौलह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरण कर तिरासी वर्ष की आयु में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त हुए।

७ मौर्यपुत्र :

इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजयादेवी था। ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और मौर्य सन्निवेश के निवासी थे। देवलोक सम्बन्धी शंका का समाधान होने से इन्होंने अपने तीन सौ पचास शिष्यों के साथ पैंसठ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। १६ वर्ष केवली-चर्या में रहकर भगवान् महावीर के समक्ष ही ९५ वर्ष की आयु में अनशन-पूर्वक गुणशील चैत्य में मुक्ति प्राप्त की।

८ अकम्पित :

इनके पिता का नाम देव और माता का नाम जयंती था। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे और मिथिला के निवासी थे। इन्होंने अड़तालीस वर्ष की आयु में नरक और नारकीय जीव संबंधी शंका समाधान होने पर अपने तीन सौ छात्रों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। नौ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में बिचरण कर सत्तावन वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष तक केवलीचर्या में रहे। भगवान् महावीर के अंतिम वर्ष में अठहत्तर वर्ष की आयु में राजगृह के गुणशील चैत्य में ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

९ अचलभ्राता :

इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था ये कौशला के हारित गोत्रीय ब्राह्मण थे। ये छियालीस वर्ष की आयु में पाप-पुण्य विषयक शंका का समाधान होने पर अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुए। बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरते रहे। बहत्तर वर्ष की कुल आयु प्राप्त कर राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के साथ मुक्ति प्राप्त की।

१० मेतार्य :

इनके पिता का नाम दत्त तथा माता का नाम वरुणादेवी था। ये वत्स देश के अन्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के निवासी थे। ये कौडिन्य गौत्रीय ब्राह्मण थे। पुनर्जन्म विषयक अपनी शंका का समाधान होने पर इन्होंने अपने तीन सौ शिष्यों के साथ छत्तीस वर्ष की आयु में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। दश वर्ष छद्मस्थावस्था में रहकर ४६ वर्ष की आयु में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सौलह वर्ष केवलीचर्या में विचरकर भगवान् महावीर के जीवनकाल में ही राजगृह के गुणशील चैत्य में बासठ वर्ष की अवस्था में मुक्ति प्राप्त की।

११ प्रभास :

इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। ये राजगृह के कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। मुक्ति विषय संदेह का समाधान होने पर इन्होंने

सौलह वर्ष की आयु में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा प्राप्त की। आठ वर्ष छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और सौलह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरकर चालीस वर्ष की आयु में भगवान् महावीर के समक्ष ही राजगृह के गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से निर्वाण को प्राप्त हुए। सबसे कम आयु में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले आप ही एक मात्र गणधर हैं।

विशेष :

भगवान् महावीर के सभी गणधर जाति के ब्राह्मण और प्रकाण्ड विद्वान थे। सभी का निर्वाण राजगृह के गुणशील चैत्य में हुआ।

आम तौर पर एक भ्रम यह है कि छठे गणधर मंडित और सातवें गणधर मौर्यपुत्र सहोदर थे। यह भ्रम दोनों की माता के एक ही नाम को लेकर उत्पन्न हुआ है। वास्तविकता यह है कि ये दोनों सहोदर नहीं थे। दोनों की माता का एक ही नाम होना मात्र संयोग है। दोनों के पिता के नाम तो भिन्न भिन्न हैं। विजया नामक दो भिन्न महिलाएं थीं।

सती-परिचय :

जैन धर्म में प्रमुख रुप से सोलह सतियां विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सौलह सतियों के अतिरिक्त और भी सतियां हुई हैं जिनका भी अपना विशेष स्थान है। यहां भगवान् महावीरकालीन प्रमुख सतियों का संक्षेप में परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

१ महासती प्रभावती :

वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक की सात पुत्रियों में से एक थी और इनकी गणना सोलह सतियों में की जाती है। प्रभावती का विवाह सिंधु-सौवीर के प्रतापी राजा उदायन के साथ हुआ था। प्रभावती की भगवान् महावीर के प्रति अटल आस्था थी।

भगवान् महावीर के प्रवचन पीयूष का पान करने के उपरांत प्रभावती का विचार दीक्षा ग्रहण करने का हुआ। यद्यपि वैराग्यभाव बाल्यकाल से ही थे किन्तु भगवान् के प्रवचन से ये भाव और पुष्ट हुए। वैराग्य भावना के प्रभाव के कारण प्रभावती का मन सांसारिक भोगों के प्रति आसक्त नहीं रहा। इसी

बीच प्रभावती ने एक पुत्र को भी जन्म दिया जिसका नाम अभीचि कुमार रखा गया। पुत्र जन्म के बाद तो वह और अधिक विरक्त हो गई। उदायन के समक्ष उसने अपनी इच्छा व्यक्त की किन्तु चूंकि उदायन अन्य धर्मानुयायी था इस कारण उसने पहले तो अनुमति नहीं दी किन्तु प्रभावती की दृढ़ इच्छा को देखते हुए इस शर्त पर अनुमति दी कि यदि प्रभावती उससे पहले स्वर्ग चली जावे तो वह आकर उदायन को सद्धर्म का प्रतिबोध देगी।

दीक्षा ग्रहण कर प्रभावती कठोर तपःसाधना में तल्लीन हो गई और कुछ ही समय में उसने तपस्या से अपने शरीर को कृश कर डाला। फिर समाधि-पूर्वक आयुष्यपूर्ण कर स्वर्गवासिनी बनी।

प्रभावती स्वर्ग में जाकर अपने पति को दिये वचन नहीं भूली। एक दिन अपने पति को धर्म का प्रतिबोध देने के लिये पृथ्वी पर आई। उसने अपने वचन को याद दिलाकर राजा उदायन को भगवान् की वाणी की सत्यता दिखाई और उसे स्वीकार करने की प्रेरणा भी दी।

राजा उदायन भगवान् महावीर के चरणों में पहुंच कर दृढ़ श्रद्धा सम्पन्न श्रावक बन गया।

२ महासती पद्मावती :

पद्मावती राजा चेटक की दूसरी पुत्री थी। पद्मावती की गणना भी सोलह सतियों में की जाती है। चम्पा के राजा दधिवाहन के साथ इसका विवाह हुआ था। जब रानी पद्मावती गर्भवती थी तब एक बार उसकी इच्छा पुरुष-वेश धारण कर हाथी पर बैठकर वन क्रीड़ा पर जाने की हुई। राजा दधिवाहन ने अनुमति प्रदान कर दी और स्वयं भी उसी हाथी पर सवार होकर रानी के साथ वनक्रीड़ा हेतु निकल पड़ा। वन में अचानक हाथी मद में आ गया और छोटे बड़े वृक्षों को रौंदता-तोड़ता हुआ भागने लगा। इस प्रसंग में राजा-रानी बिछड़ गये।

रानी पद्मावती गिरती भटकती हुई जैन साध्वियों के आश्रम में पहुंच गई और वहीं रहते हुए उसने दीक्षा स्वीकार करली। अब वह रानी के स्थान पर साध्वी पद्मावती हो गई। अब उसका समय स्वाध्याय-ध्यान जप-तप में व्यतीत होने लगा। इधर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे। गुरुआनी के पूछने पर पद्मावती ने सब कुछ सत्य सत्य बता दिया।

कालांतर में पद्मावती ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसे श्मशान के निकट के वृक्ष के नीचे छोड़ दिया। यही बालक श्मशान रक्षक चांडाल के हाथों पड़ा और उसी के यहां पला-पोसा भी। चांडाल उसे दिनभर हाथ से शरीर खुजलाते देखता था इस कारण प्रेम से उसे 'करकंडू' नाम से पुकारने लगा। बस उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया।

यही करकंडू बाद में कंचनपुर नामक राज्य का राजा बना और किसी प्रसंग को लेकर महाराज दधिवाहन ने कंचनपुर पर आक्रमण कर दिया। इधर करकंडू भी युद्ध के लिये तैयार हो मैदान में आ गया।

जब इस युद्ध का समाचार साध्वी पद्मावती को मिला तो उसने इस भयंकर घटना को टालने के लिये पिता-पुत्र के बीच रहस्य के पर्दे का अनावरण कर एक भयंकर घटना को टाल दिया। पिता-पुत्र गले मिल गये। करकंडू अपने वास्तविक माता पिता के दर्शन कर स्वयं को कृत-कृत्य मान रहा था।

पद्मावती अपना कर्तव्यपूर्ण कर अपने धर्मस्थान को लौट आई। उसकी प्रेरणा से न केवल संकट टला वरन् दोनों देशों के बीच स्नेह एवं शांति की रसधारा प्रवाहित हो चली। स्नेह एवं शांति की सूत्रधार महासती पद्मावती की जय जयकार की ध्वनि चारों ओर गूंज उठी।

३ महासती मृगावती :

मृगावती महाराज चेटक की तृतीय पुत्री थी। मृगावती की गणना भी सोलह सतियों में की जाती है। मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक की रानी थी।

रानी मृगावती के चित्र को देखकर अवंती नरेश चण्डप्रद्योत ने शतानीक के पास अपने दूत को भेजकर मृगावती की मांग की। शतानीक ने चण्डप्रद्योत की मांग अस्वीकार कर दी तो उसने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। शतानीक इस आकस्मिक आक्रमण से इतना भयभीत हो गया कि उसकी हृदयगति बंद हो गई। इस विपत्ति काल में सती नारी मृगावती ने धैर्य से काम लिया। अल्पवयस्क पुत्र उदयन का संरक्षण, राज्य की रक्षा आदि का भार अब उस पर था। इनसे बढ़कर अपने शील धर्म को भी सुरक्षित रखना था। मृगावती ने चण्डप्रद्योत के पास समाचार भेजा कि अभी कौशाम्बी शोकग्रस्त है। अनुकूल

समय आने पर ही उचित फल की प्राप्ति होती है। अभी आप वापस अपने देश को चले जावें। इस पर चण्डप्रद्योत अपने देश को लौट गया।

चण्डप्रद्योत ने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। इस बीच मृगावती ने कौशाम्बी के कोट-किले पहिले से ही लोह जैसे बनवा दिये थे। चण्डप्रद्योत की सेना को उसे तोड़ने में सफलता नहीं मिली। इधर मृगावती ने अपने आपको तप, स्वाध्याय, ध्यान एवं प्रभु भक्ति में लगा दिया।

इसी समय धर्म प्रचार करते हुए भगवान् महावीर का आगमन कौशाम्बी के उद्यान में हुआ। भगवान् का आगमन सुनकर मृगावती उनके समवसरण में उपस्थित हुई। राजा चण्डप्रद्योत भी भगवान् की देशना सुनने के लिये वहीं आया। भगवान् की वाणी सुनकर मृगावती ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। यहीं चण्डप्रद्योत का भी हृदय परिवर्तित हुआ। मृगावती उदयन की रक्षा का भार चण्डप्रद्योत के हाथों में सौंपकर भगवान् के चरणों में दीक्षित होकर महासती चन्दनबाला की शिष्या बन गई।

भगवान् महावीर एक बार पुनः जब कौशाम्बी पधारे तो महासती चन्दनबाला के साथ महासती मृगावती भी वहां आई। मृगावती एक दिन प्रभु के दर्शन करने गई। संध्या समय सूर्य-चन्द्र भगवान् महावीर के दर्शन करने आये थे। इससे मृगावती को समय का पता नहीं चला। जब वह रात को धर्मस्थानक में आई तो चन्दनबाला जी से उसे उलाहना मिला कि साध्वी को रात्रि में बाहर नहीं रहना चाहिये। महासती मृगावती ने अपनी भूल के लिये क्षमा मांगी और अपने अज्ञान पर पश्चाताप करती हुई शुद्ध भावनाओं की उच्चतम श्रेणी में पहुंच गई। उसी समय मृगावती को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उस समय महासती चंदनबाला के पास से एक सांप निकला। यद्यपि उस समय रात्रि का गहरा अंधकार था तथापि महासती मृगावती तो सूर्य के प्रकाश के समान ज्ञानालोक से सब कुछ देख रही थी। मृगावती ने चन्दनबाला का हाथ एक ओर कर दिया। इस पर चन्दनबाला ने कारण जानना चाहा। मृगावती ने वास्तविकता बता दी कि इधर सांप आ रहा था। चन्दनबाला ने समझ लिया कि घोर अंधेरा होने पर भी दिखाई देने का अर्थ है महासती मृगावती को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। आर्या चन्दनबाला भी उनकी स्तुति करने लगी और आत्म-निरीक्षण में ऐसी तल्लीन हुई कि भावों की क्षपक-श्रेणी पर चढ़कर

सहसा चार घनघाती कर्मों का क्षय कर डाला। अर्थात् उन्हें भी केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई।

जब लोगों ने सुना कि एक ही रात्रि में दो दो महासतियों को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है तो लोग उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़े।

४ महासती चन्दनबाला :

महासती चन्दनबाला का परिचय पूर्व पृष्ठों में भगवान् महावीर के घोर अभिग्रह के अन्तर्गत दिया जा चुका है। चन्दनबाला अपरनाम वसुमति की करुण कथा वर्तमान युग में भी अनेक सहृदय कवियों और कथाकारों की लेखनी का प्रिय विषय बनी हुई है। इस महासती के माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं किन्तु नाम, जीवन की घटनाओं एवं प्रेरक पुण्य-चरित्र के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं। उस चन्दन रस जैसी कोमल किन्तु काष्ठ जैसी कठोर, अतीव सुन्दरी कोमलांगी तथापि वीरबाला का कौमार्यकाल में आततायियों द्वारा अपहरण हुआ। अनेक मर्मान्तिक कष्टों के बीच से गुजरते हुए अन्ततः अनाम, अजाति, अज्ञात-कुला क्रीतदासी के रूप में भरे बाजार उसका विक्रय हुआ। क्रय करने वाले कौशाम्बी के सेठ धनदत्त के स्नेह और कृपा का भाजन बनी तो सेठ पत्नी मूला के डाह और अमानुषिक अत्याचारों की शिकार हुई। अंत में जब वह मुंडे सिर, जीर्ण-शीर्ण अल्पवस्त्रों में, लोह शृंखलाओं से बंधी, कई दिन कि भूखी-प्यासी, एक सूप में अध-उबले उड़द के कुछ बाकले लिये, जीवन के कटु सत्यों की जुगाली करती हवेली के द्वार पर खड़ी थी कि भगवान् महावीर के अतिदुर्लभ दर्शन प्राप्त हो गये। दुस्साध्य अभिग्रह लेकर वह महातपस्वी साधु लगभग छह माह से निराहार विचर रहा था। अपने अभिग्रह की पूर्ति उस बाला की उपर्युक्त वस्तुस्थिति में होती दिखाई दी और महामुनि उसके सम्मुख आ खड़े हुए। चन्दना की दशा अनिर्वचनीय थीं, महादरिद्री अनायास चिंतामणि रत्न पा गया, भक्त को भगवान्, मिल गये, वह धन्य हो गई। हर्ष-विषाद मिश्रित अद्भुत मुद्रा से उसने वह अति तुच्छ भोज्य प्रभु को समर्पित कर दिया, उनके सुदीर्घ अनशन व्रत का पारणा हुआ, दिव्य प्रगट हुए, जनसमूह इस अद्वितीय दृश्य को देखकर विस्मय-विभूत था। और चन्दना उसका तो उद्धार हो गया। साथ ही समाज का कोढ़ उस घृणित दास-दासी प्रथा का भी उच्छेद हो गया। गुणों के सामने जाति, कुल, अभिजात्य आदि की महत्ता भी समाप्त हो गयी। चन्दना तो पहले से ही भगवान् की भक्त थी अब उनकी

शिष्या और अनुगामिनी भी बन गई। यथा समय वही महावीर के संघ की प्रथम साध्वी और उनके आर्यिका संघ की, जिनमें ३६००० आर्यिकायें थीं, प्रधान बनीं। अपनी आत्म-साधना में वह निरन्तर प्रगति शील बनी रहीं और एक दिन कैवल्यज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के अजर-अमर पद पर विराजमान हुई।

५ महासती शिवा :

महाराज चेटक की चतुर्थ पुत्री थी। शिवा की गणना भी सोलह महासतियों में की जाती है। शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत की पटरानी थी। बचपन से ही उसके जीवन में धार्मिक संस्कार थे और भगवान् महावीर के प्रति अटूट श्रद्धा थी। शिवा वास्तव में शिवा अर्थात् कल्याणकारिणी थी। उसका जीवन बड़ा पवित्र था, मन उदार और सरल था। वह प्राणिमात्र का भला चाहती थी इसलिये उसका नाम यथानाम तथा गुण था।

महानगरी उज्जयिनी में जब देवीप्रकोप से आग लग गयी तो इन महासती शिवादेवी के सतीत्व के प्रभाव से उनके द्वारा छिड़के गये जल से ही वह शान्त हो पायी थी। नगर में शांति और खुशी छा गई और चारों ओर महासती शिवादेवी की जय के नारे गूंजने लगे।

एक दिन भगवान् महावीर उज्जयिनी पधारे। शिवादेवी ने अवसर देख कर प्रभु से दीक्षा देने की प्रार्थना की। चण्डप्रद्योत भी बहुत दुःखी हुआ किंतु शिवादेवी की प्रबल वैराग्य भावना को रोकने में असफल ही रहा। शिवादेवी भगवान् महावीर के चरणों में संयम व्रत स्वीकार कर महासती चन्दनबाला के नेतृत्व में संयम आराधना करती हुई अंत में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष-गति को प्राप्त हुई।

६ महासती सुलसा :

राजा श्रेणिक की रथसेना के प्रमुख नाग की पत्नी थी सुलसा। सुलसा नारी जाति का गौरव थी। सुन्दरता, सुशीलता और चातुर्य में ही नहीं वरन् विद्या, विवेक, धर्मनिष्ठा एवं शील-सम्पन्नता में भी उसकी कीर्ति दूर दूर तक फैली हुई थी। पति-पत्नी दोनों ही भगवान् महावीर के व्रतधारी श्रावक थे। वे सब भांति सुखी थे किन्तु सन्तान न होने से नाग अधिक चिंतित रहता था। इस विषय में पति-पत्नी दोनों के बीच कभी कभी चर्चा भी हो जाया

करती किन्तु सुलसा की नीति परक धर्मप्रधान बातों से नाग संतुष्ट होकर धर्मध्यान में लग जाया करता था।

जब सुलसा की कीर्ति-पताका देवसभा में भी फैलने लगी तो एक देव ने सुलसा की परीक्षा लेने का विचार किया।

एक दिन सुलसा के घर एक मुनि भिक्षार्थ आये और कहा कि एक साधु बीमार है जिसके लिये लक्षपाक तैल की आवश्यकता है। सुलसा ने प्रसन्न मन से साधु के उपचारार्थ तैल देने के विचार से कमरे में जाकर तैल का घड़ा उठाया कि वह हाथ से छूट गया और बहुमूल्य तैल चारों ओर बिखर गया। उसने दूसरा घड़ा उठाया वह भी हाथ से छूट कर फूट गया फिर उसने तीसरा घड़ा उठाया, बाहर निकाला किन्तु बाहर लाते ही वह भी फूट गया। इतना होने पर भी सुलसा ने धैर्य नहीं छोड़ा। मुनि का मन उदास हो गया। सुलसा न उदास हुई और न ही क्रोधित। वह शान्त बनी रही तथा मुनि से निवेदन किया कि मुनिवर आज मेरे भाग्य में सुपात्र दान नहीं लिखा है मेरे कर्म बाधक बन रहे हैं। मुझे दुःख है कि मेरे पास औषधि होते हुए भी बीमार मुनि के काम न आ सकी। आपको भी व्यर्थ ही में कष्ट हुआ।

मुनि ने देखा कि इतनी हानि होने पर भी सुलसा के मन में धैर्य और शांति है तब वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। वह मुनि और कोई न होकर देवसभा का देव था जिसने सुलसा की परीक्षा लेने का विचार किया था। देव ने देवसभा में सुलसा की प्रशंसा वाली बातें बताते हुए उसके धैर्य, धर्मनिष्ठा की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए उसे वर मांगने को कहा। सुलसा ने अपने जीवन के अभाव की चर्चा करते हुए कहा कि संतान न होने से मेरे पति सदैव चिंतित रहते हैं। यदि मेरी यह कामना पूर्ण हो सके तो मुझे प्रसन्नता होगी। इस पर देव ने सुलसा को बत्तीस गोलियां प्रदान की जिनके प्रयोग से सुलसा को बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति हुई। सुलसा के ये बत्तीस ही पुत्र राजा श्रेणिक के चेलणा के अपहरण प्रसंग के अवसर पर मृत्यु को प्राप्त हुए। सुलसा ने इस भयानक शोक में भी अपने आपको सम्भाले रखा। यह सोचकर कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। उसने धैर्यपूर्वक इस विपत्ति को सहन किया।

भगवान् महावीर के मुख से सुलसा की प्रशंसा सुनकर अम्वड़ ने भी उसकी परीक्षा ली और उसमें भी वह खरी उतरी। अम्वड़ ने भी सुलसा की मुक्तकंठ से स्तवना की।

दृढ़ सम्यकत्वधारिणी सुलसा ने अपने धैर्य, स्थिरता आदि गुणों की उत्कृष्टता के कारण तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन किया। वह आगामी चौवीसी में निर्मम पन्द्रहवां तीर्थंकर बनेगी।

७ महासती चेलणा :

चेलणा वैशाली के राजा चेटक की सबसे छोटी कन्या थी और मगधपति श्रेणिक की महारानी थी। राजा श्रेणिक बौद्धधर्मानुयायी था और रानी चेलणा भगवान् महावीर की उपासिका थी। राजा श्रेणिक चेलणा को बौद्ध धर्म की ओर खींचना चाहते थे और चेलणा राजा श्रेणिक को निग्रन्थ के चरणों में झुकाना चाहती थी। यह धर्म संघर्ष उनके दाम्पत्य प्रेम में किसी भी रूप में कभी भी बाधा नहीं बना।

अनाथी मुनि के प्रसंग से राजा श्रेणिक धर्म का मर्म समझ गया और वह भगवान् महावीर का परम भक्त बन गया।

एक बार राजा श्रेणिक को चेलणा के चरित्र पर संदेह हो गया और उसने चेलणा को दुराचारिणी समझकर चेलणा के महल को तत्काल जला डालने का आदेश दे दिया। महल को जला देने के आदेश से भी उसके मन को शांति नहीं मिली। वह सीधा भगवान् महावीर की सभा में पहुंचा और उसने अपनी रानी चेलणा के पातिव्रत्य विषयक प्रश्न किया। भगवान् महावीर ने रानी चेलणा के पतिव्रता सती होने का विचार प्रकट कर उसकी प्रशंसा की और श्रेणिक की शंका का समाधान किया तो वह भागा भागा महलों की ओर आया। महलों की आग देखकर वह क्रुद्ध भी हुआ किन्तु जब उसे विदित हुआ कि यह आग महलों की न होकर महलों के आसपास के झोपड़ों की है और रानी चेलणा पूर्णरूप से सुरक्षित है तो वह उसके पास गया और अपने किये की क्षमा मांगी।

उपस्थित जन-समुदाय को जब सम्पूर्ण किस्सा विदित हुआ और उन्होंने

सुना कि चेलणा की प्रशंसा भगवान् महावीर ने भी की है तो जनसमुदाय ने चेलणा की जय-जयकार से गगन मंडल गूंजा दिया।

यहां भगवान् महावीरकालीन कुछ ही महासतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस विषय पर यदि विस्तार से लिखा जावे तो एक अच्छी पुस्तक बन सकती है किन्तु यहां हमारा उद्देश्य उन सब पर प्रकाश डालना न होकर उस समय की प्रसिद्ध कुछ ही महासतियों का स्वल्प परिचय देना है।

जैन धर्म में जिन सोलह महान् नारियों की गाथा है वह जैन इतिहास में सोलह सतियों के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक जैन इन सतियों के नाम स्मरण कर अपने आपको धन्य अनुभव करता है। सतियों के नाम स्मरणार्थ निम्न-लिखित श्लोक अत्यधिक प्रसिद्ध है।

ब्राह्मी, चंदनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा, सीता सुभद्रा शिवा।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यहो।
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन मुखे कुर्वन्तु वो मंगलम्।

तत्कालीन राज-पुरूष :

भगवान् महावीर के समकालीन अनेक राजा-महाराजाओं और उनके मंत्री आदि राजपुरूषों का साक्षात रूप में भगवान् महावीर से सम्बन्ध था। यदि भगवान् महावीर के अनुयायी राजपुरूषों की सूची बनाई जावे और उस पर लिखा जावे तो यह भी एक अच्छे ग्रन्थ का रूप ले सकता है। यहां ऐसे ही कुछ सुप्रसिद्ध राजपुरूषों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है, जो भगवान् महावीर के अनुयायी थे।

१ महाराज चेटक :

चेटक जैन परम्परा में दृढ़धर्मी उपासक माने गये हैं, वे भगवान् महा-

महासतियों का विवरण निम्नांकित पुस्तकों पर आधारित है।
(१) जैन कथामाला, भाग २ व ३, श्री मधुकर मुनि
(२) प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरूष और महिलायें

डा० ज्योति जैन

वीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि में इन्हें व्रतधारी श्रावक माना गया है। इनके सात पुत्रियां थीं जिनमें से कुछ का परिचय ऊपर दिया गया है।

चेटक वैशाली के गणतंत्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतंत्र के ७७०७ सदस्य थे जो राजा कहलाते थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे। चेटक के दस पुत्र भी थे जिनमें सिंहभद्र सबसे ज्येष्ठ और वाज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।

महाराज चेटक हैहयवंशीय राजा थे। वे भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ ही साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। प्राणों पर संकट आ जाने पर भी उन्होंने अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। शरणागत की रक्षा करने के लिये भी वे प्रसिद्ध थे। अपनी शरणागति और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पा नरेश कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिये भयंकर युद्ध करना पड़ा और अन्त में वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होंने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

२ सेनापति सिंहभद्र :

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, चेटक के दस पुत्र थे जिनके नाम सिंह-भद्र, दत्तभद्र, घन, सुदत्त, उपेन्द्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास थे। ये सभी वीर योद्धा, यशस्वी और धार्मिक थे जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सिंहभद्र है जो लिच्छवियों के प्रधान सेनापति थे, बड़े कुशल सेनानी निर्भीक योद्धा साथ ही प्रबुद्ध जिज्ञासु भी थे। भगवान् महावीर के वे अनन्य भक्त थे।

३ चण्डप्रद्योत :

पुणिक का पुत्र अवन्ति-नरेश प्रद्योत अपनी प्रचण्डता के कारण चण्ड प्रद्योत कहलाता था, वैसे उसका मूल नाम महासेन प्रद्योत था। वह अत्यन्त ज्ञानी, युद्धप्रिय और निरंकुश शासक था। अंग, वत्स, सिंधु सौवीर आदि कई राज्यों पर, सम्बन्धों की भी अवहेलना करके, उसने प्रचण्ड आक्रमण किये थे। उसके अधीन चौदह मुकुटधारी राजा थे जो युद्ध में उसकी सहायता करते थे।

अन्त में भगवान् महावीर के प्रभाव से ही उसकी मनोवृत्ति में कुछ सौम्यता आयी थी। जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ति में प्रद्योत के पुत्र एवं उत्तराधिकारी पालक का राज्याभिषेक हुआ था।

४ महाराजा उदायन :

भगवान् महावीर के परमभक्त उपासक नरेशों में सिंधु सौवीर देश के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय महाराजाधिराज उदायन का पर्याप्त उच्च स्थान है। उनके राज्य में सोलह बड़े बड़े जनपद थे, ३६३ नगर तथा उतनी ही खनिज पदार्थों की बड़ी बड़ी खदानें थीं। दश छत्र-मुकुटधारी नरेश और अनेक छोटे भूपति, सामन्त, सरदार, सेठ साहुकार एवं सार्थवाह उनकी सेवा में रत् रहते थे। राजधानी रोरुक नगर अपर नाम वीतभय पत्तन एक विशाल, सुन्दर एवं वैभवपूर्ण महानगर तथा भारत के पश्चिमी तट का महत्वपूर्ण बंदरगाह था। उसका नाम 'वीतभय' इसीलिये प्रसिद्ध हुआ कि महाराज उदायन के उदार एवं न्याय-नीतिपूर्ण सुशासन में प्रजा सभी प्रकार के भय से मुक्त हो सुख और शांति का उपभोग करती थी। इतने प्रतापी और महान् नरेश होते हुए भी महाराज उदायन अत्यन्त निरभिमानी, विनयशील, साधु–सेवी और धर्मानुरागी थे। उनकी महारानी का परिचय पूर्व में दिया जा चुका है। कहा जाता है कि महारानी की उत्कट धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर ही महाराज ऐसे धर्मनिष्ठ बने थे। महारानी प्रभावती ने अपने राज्य में किसी स्वधर्मी को स्थानीय एवं उत्तरदेशीय भी जो अपने यहां किसी कार्यवश आया हुआ हो उसको किसी भी प्रकार की असुविधा न हो ऐसी समुचित व्यवस्था कर रखी थी।

भगवान् महावीर के अपने नगर में पधारने पर राजा-रानी और पूरा परिवार तथा पार्षद एवं प्रजाजन भगवान् के समवसरण में पहुंचे और उपदेशामृत का पान किया जिससे प्रभावित होकर श्रावक धर्म स्वीकार किया। साधुओं की सेवादि में उन्हें विशेष आनंद आता था। वे आदर्श भक्त थे। उन्होंने भी अन्त में दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया था।

५ महाराज श्रेणिक :

महाराज श्रेणिक का अपरनाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास प्रसिद्ध शिशुनागवंश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी नरेश थे। वाहीक प्रदेश के निवासी होने के कारण उन्हें वाहीक कुल का भी कहा गया है।

महाराज श्रेणिक मगध के अधिपति थे और भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में प्रमुख थे। इनके पिता महाराज प्रसेनजित भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रावक थे। उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह नगर थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यों में की जाती थी। श्रेणिक जन्म से जैन धर्मावलम्बी होकर भी अपने निर्वासनकाल में जैन धर्म के सम्पर्क से हट गये हों ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथाग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है। इसका प्रमाण महारानी चेलणा और महाराज श्रेणिक का धार्मिक संघर्ष है। यदि श्रेणिक प्रारम्भ से ही जैन धर्म के अनुयायी होते तो महारानी चेलणा के साथ उनका धार्मिक संघर्ष नहीं होता।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एवं उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमंत्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय तक जैन धर्मावलम्वी नहीं थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निमंत्रण नहीं देते। अनाथी मुनि के त्याग, विराग एवं उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल मन से जैन धर्म के प्रति अनुरक्त हुए। यदि यह कहा जाय कि यहीं से श्रेणिक को जैन धर्म का बोध मिला तो अनुचित नहीं होगा।

जब श्रेणिक को भगवान् महावीर के राजगृही आगमन का समाचार मिला तो वह संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठकर जिस दिशा में प्रभु विराजमान थे उस दिशा में सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होंने प्रभु को वन्दन किया। तदनन्तर वे महारानी चेलणा के साथ भगवान् महावीर को वंदना करने गये और भगवान् का उपदेशामृत पान करके बड़े प्रसन्न हुए। भगवान् महावीर के चरणों में महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि एक समय उन्होंने घोषणा की कि कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसे नहीं रोका जावेगा। इस घोषणा से उनके तेईस पुत्रों और तेईस रानियों ने दीक्षा अंगीकार की थी।

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बड़ी प्रभावना की थी। अव्रती होकर भी उन्होंने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्रकर्म को बंध किया प्रथम नारकभूमि से निकलकर वह पद्नाभ नाम के अगली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप से उत्पन्न होंगे। वहां भगवान् महावीर की भांति वे पंच महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

६ मंत्रीश्वर अभयकुमार :

महाराज श्रेणिक के सुशासन, उत्तम राज्य व्यवस्था, स्पृहणीय न्याय शासन, समृद्धि, वैभव एवं राजनयिक संघर्ष का श्रेय अनेक अंशों में उनके इतिहास-विश्रुत, बुद्धि विधान मंत्रीश्वर अभयकुमार को है। अभयकुमार द्रविड़देशीय ब्राह्मण पत्नी नन्दश्री से उत्पन्न उनके ही ज्येष्ठ पुत्र थे। एक अन्य मतानुसार अभय की माता नंदा या नंदश्री दक्षिण देश के वैण्यातट नामक नगर के धनावह नामक श्रेष्ठि की पुत्री थी। कुछ भी हो अभयकुमार की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

जैन इतिहास में अभयकुमार की भगवान् महावीर के परमभक्त, एक धर्मात्मा, शीलवान, संयमी श्रावक होने के अतिरिक्त एक अत्यन्त मेधावी, अद्भुत प्रत्युत्पन्न मति, न्याय शासन दक्ष, विचक्षण बुद्धि, कुटनीतिक, विशारद राजनीति पटु, प्रजावत्सल, अतिकुशल प्रशासक एवं आदर्श राज्य मंत्री के रूप में ख्याति है। जब जब भी राज्य पर कोई भी संकट आया, अभयकुमार ने अपने बुद्धि बल से अपने राज्य के धन जन और प्रतिष्ठा की तुरन्त और सफल रक्षा की। वे वेश बदलकर जनता के बीच जाते और विभिन्न सूचनाएं प्राप्त करते, षडयन्त्रों को विफल करते, जनता के संतोष-असंतोष का पता लगाते, न्यायिक जांच करते थे।

इतने बड़े राज्य का शक्ति सम्पन्न महामंत्री तथा महाराज का ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी राज्य लिप्सा उसे छू भी नहीं गई थी। वे अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के थे। अभयकुमार ने दीक्षा की आज्ञा अपने पिता राजा श्रेणिक से बुद्धिबल से प्राप्त कर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की और विजय अणुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

महाराज श्रेणिक के अन्य पुत्रों में से कूणिक के अतिरिक्त मेघकुमार, नन्दिषेण और वारिषेण के चरित्र विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रकार के देव-दुर्लभ वैभव में पले, वे भी विषम भोगों में मग्न थे कि भगवान् महावीर के उपदेशों

से प्रभावित होकर सब कुछ त्यागकर कठोर तपःसंयम का मार्ग अपना लिया उनके श्रद्धान् एवं शील की दृढ़ता अनुकरणीय मानी जाती है।

७ कूणिक-अजातशत्रु :

कूणिक महारानी चेलना से उत्पन्न श्रेणिक के पुत्रों में सबसे बड़ा था। जब बालक गर्भ में था तब माता ने सिंह का स्वरूप देखा। गर्भकाल में माता को श्रेणिक राजा के कलेजे के मांस को खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। माता को अपने गर्भस्थ शिशु की ऐसी दुर्भावना से दुःख हुआ। जन्म के पश्चात् चेलना ने नवजात शिशु को कूड़े की ढेरी पर फिकवा दिया। एक मुर्गे ने वहां बालक की कनिष्ठ-अंगुली काट ली जिसके कारण अंगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक रोने लगा। बालक की चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और उसे उठाकर महल में लाया। बालक की पीड़ा से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस चूसकर अंगुली का मवाद निकला। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रखा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का वैर अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः बड़ा होने पर उसके मन में राज्य-प्राप्ति की इच्छा हुई। उसने अपने दस भाइयों को साथ लेकर राज्याभिषेक कराया और महाराज श्रेणिक को कैद में डलवा दिया।

एक दिन जब यह अपनी माता के चरण-वंदन को गया तो माता ने उसका चरण-वंदन स्वीकार नहीं किया और जब कूणिक ने कारण पूछा तो स्पष्ट कहा कि जो पुत्र अपने उपकारी पिता को कारावास में डालकर स्वयं राज-सुख भोग रहा है उसका मुंह देखना भी पाप है। इस पर कूणिक के मन में पितृ प्रेम उमड़ पड़ा और वह तत्काल ही हाथ में परशु लेकर पिता के बंधन काटने कारागृह की ओर चल दिया। जब श्रेणिक ने इस स्थिति में कूणिक को अपनी ओर आते हुए देखा तो अनिष्ट की आशंका से उसने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण-त्याग दिए।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बहुत दुःख हुआ। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सचेत होने पर वह स्वयं अपने आपको ही प्रताड़ित करने लगा। बाद में राजगृह छोड़कर उसने चम्पा में राजधानी बसायी और वहीं रहने लगा।

भगवान् के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

६ मंत्रीश्वर अभयकुमार :

महाराज श्रेणिक के सुशासन, उत्तम राज्य व्यवस्था, स्पृहणीय न्याय शासन, समृद्धि, वैभव एवं राजनयिक संघर्ष का श्रेय अनेक अंशों में उनके इतिहास-विश्रुत, बुद्धि विधान मंत्रीश्वर अभयकुमार को है। अभयकुमार द्रविड़देशीय ब्राह्मण पत्नी नन्दश्री से उत्पन्न उनके ही ज्येष्ठ पुत्र थे। एक अन्य मतानुसार अभय की माता नंदा या नंदशी दक्षिण देश के वैण्यातट नामक नगर के धनावह नामक श्रेष्ठि की पुत्री थी। कुछ भी हो अभयकुमार की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

जैन इतिहास में अभयकुमार की भगवान् महावीर के परमभक्त, एक धर्मात्मा, शीलवान, संयमी श्रावक होने के अतिरिक्त एक अत्यन्त मेधावी, अद्भुत प्रत्युत्पन्न मति, न्याय शासन दक्ष, विचक्षण बुद्धि, कूट-नीतिक, विशारद राजनीति पटु, प्रजावत्सल, अतिकुशल प्रशासक एवं आदर्श राज्य मंत्री के रूप में ख्याति है। जब जब भी राज्य पर कोई भी संकट आया, अभयकुमार ने अपने बुद्धि बल से अपने राज्य के धन जन और प्रतिष्ठा की तुरन्त और सफल रक्षा की। वे वेश बदलकर जनता के बीच जाते और विभिन्न सूचनाएं प्राप्त करते, षडयन्त्रों को विफल करते, जनता के संतोष-असंतोष का पता लगाते, न्यायिक जांच करते थे।

इतने बड़े राज्य का शक्ति सम्पन्न महामंत्री तथा महाराज का ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी राज्य लिप्सा उसे छू भी नहीं गई थी। वे अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के थे। अभयकुमार ने दीक्षा की आज्ञा अपने पिता राजा श्रेणिक से बुद्धिबल से प्राप्त कर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की और विजय अणुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

महाराज श्रेणिक के अन्य पुत्रों में से कूणिक के अतिरिक्त मेघकुमार, नन्दिषेण और वारिषेण के चरित्र विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रकार के देव-दुर्लभ वैभव में पले, वे भी विषम भोगों में मग्न थे कि भगवान् महावीर के उपदेशों

से प्रभावित होकर सब कुछ त्यागकर कठोर तप:संयम का मार्ग अपना लिया उनके श्रद्धान् एवं शील की दृढ़ता अनुकरणीय मानी जाती है।

७ कूणिक-अजातशत्रु :

कूणिक महारानी चेलना से उत्पन्न श्रेणिक के पुत्रों में सबसे बड़ा था। जब बालक गर्भ में था तब माता ने सिंह का स्वरूप देखा। गर्भकाल में माता को श्रेणिक राजा के कलेजे के मांस को खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। माता को अपने गर्भस्थ शिशु की ऐसी दुर्भावना से दुःख हुआ। जन्म के पश्चात् चेलना ने नवजात शिशु को कूड़े की ढेरी पर फिकवा दिया। एक मुर्गे ने वहां बालक की कनिष्ठ-अंगुली काट ली जिसके कारण अंगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक रोने लगा। बालक की चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और उसे उठाकर महल में लाया। बालक की पीड़ा से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस चूसकर अंगुली का मवाद निकला। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रखा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का बैर अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः बड़ा होने पर उसके मन में राज्य-प्राप्ति की इच्छा हुई। उसने अपने दस भाइयों को साथ लेकर राज्याभिषेक कराया और महाराज श्रेणिक को कैद में डलवा दिया।

एक दिन जब यह अपनी माता के चरण-वंदन को गया तो माता ने उसका चरण-वंदन स्वीकार नहीं किया और जब कूणिक ने कारण पूछा तो स्पष्ट कहा कि जो पुत्र अपने उपकारी पिता को कारावास में डालकर स्वयं राज-सुख भोग रहा है उसका मुंह देखना भी पाप है। इस पर कूणिक के मन में पितृ प्रेम उमड़ पड़ा और वह तत्काल ही हाथ में परशु लेकर पिता के बंधन काटने कारागृह की ओर चल दिया। जब श्रेणिक ने इस स्थिति में कूणिक को अपनी ओर आते हुए देखा तो अनिष्ट की आशंका से उसने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण-त्याग दिए।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बहुत दुःख हुआ। वह मूच्छित होकर गिर पड़ा। सचेत होने पर वह स्वयं अपने आपको ही प्रताड़ित करने लगा। बाद में राजगृह छोड़कर उसने चम्पा में राजधानी बसायी और वहीं रहने लगा।

कूणिक की रानियों में पद्मावती, धारिणी और सुभद्रा प्रमुख थीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि उसने आठ राजकुमारियों से विवाह किया था, उदाई महारानी पद्मावती से उत्पन्न उसका पुत्र था, जो उसके बाद सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से राजधानी पाटलीपुत्र स्थानान्तरित की थी।

चेलना के सत्संग ने, संस्कारों ने कूणिक के मन में भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भर दी थी।

भगवान् महावीर के चम्पानगरी में आगमन की सूचना लाने वाले संवाददाता को वह एक लाख आठ हजार रजत मुद्राओं का प्रीतिदान दिया करता था।

कूणिक का वैशाली गणतंत्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ भीषण युद्ध हुआ था। उस युद्ध के कारण हुए नरसंहार में एक करोड़, अस्सो लाख लोग मारे गये थे। इस युद्ध में महाशिला कंटक युद्ध और रथमूसल संग्राम अधिक प्रसिद्ध हैं। छलबल से कूणिक ने वैभवशाली वैशाली में अपनी सेना के साथ प्रवेश कर उसके वैभवशाली भवनों को भंग कर दिया। वैशाली भंग होने के समाचार को सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राण त्याग कर दिये और वे देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

भगवती सूत्र और निरयावलिका में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से प्रमाणित हो जाता है कि युद्ध में आधुनिक युग के प्रक्षेपणास्त्रों और टैंकों से भी अति भीषण संहारकारक महाशिलाकंटक और रथमूसल अस्त्र थे।

महाशिला कंटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय कूणिक की धाक चारों ओर जम गई थी। उसके समक्ष प्रतिरोध करने का साहस तत्कालीन नरेशों में से कोई भी नहीं कर सका। कूणिक अनेक देशों को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्त्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्त्र गुफा के द्वार पर दण्ड प्रहार किया। यहीं गुफा के द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुंकार की और कूणिक तत्काल वहीं भस्मसात् हो गया। मरकर वह छट्ठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का भक्त होते हुए भी वह तीव लोभ के उदय से पथभ्रष्ट

हुआ और तीव्र आसक्ति के कारण दुर्गति का अधिकारी बना । कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देखकर उसकी सेना भयभीत हो गई और चम्पा लौट आई ।

८ उदयिन :

कूणिक के उपरांत उसका पुत्र उदयिन (उदायी, अजउदायीं या उदयीभट) सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । वह भी चम्पा का शासक रह चुका था । जैन साहित्य में उसका वर्णन एक महान जैन नरेश के रूप में पाया जाता है । उसकी माता का नाम पद्मावती था । वह सुशिक्षित, सुयोग्य और वीर राजकुमार था । उदयिन ने ही पाटलिपुत्र नगर बसाया था और उसी ने राजागृह से अपनी राजधानी स्थानांतरित की थी । वह एक परम जैन भक्त था । एक शत्रु ने छल से उसकी हत्या कर दी । उसके बाद अनुरूद्ध, मुण्ड, नागदशक या दर्शक आदि कुछ नरेश क्रमशः हुए । वे कुल परम्परानुसार प्रायः जैन धर्मानुयायी थे किन्तु शासनकाल अल्प रहने से गौण रहे ।

अन्य तत्कालीन नरेश :

कलिंग नरेश जितशत्रु और चंपा नरेश दधिवाहन सपरिवार भगवान् के परमभक्त, सुश्रावक एवं अपने समय के प्रतिष्ठा सम्पन्न नरेश थे । कौसलाधिपति महाराज प्रसेनजित महावीर और गौतम बुद्ध का ही नहीं मक्खलि गोशाल आदि अन्य तत्कालीन श्रमण एवं ब्राह्मण धर्माचार्यों का भी समानरूप से आदर करते थे । कोल्लाग-संनिवेश के स्वामी कूलनृप ने, जो सम्भवतः भगवान् का सगोत्रीय था, उनको प्रथम आहारदान देकर पारणा कराया था । वसन्तपुर के राजा समरवीर, पावा के हस्तिपाल और पुण्यपाल, पलाशपुर के राजा विजय सेन और राजकुमार ऐमुंत्त, वाराणसी की राजकुमारी मुण्डिका, कौशाम्बी नरेश उदयन, दशार्ण देश के राजा दशरथ, पोदनपुर के विद्रराज, कपिलवस्तु के शाक्य वप्प (गौतम बुद्ध के चाचा) मथुरा के उदितोदय और अवंति-प्रभ तथा उनका राज्य-सेठ, पांचाल नरेश जय, हस्तिनापुर के भूपति शिवराज, तथा वहां के नगरसेठ पोत्तलि, पोत्तननगर के राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इत्यादि राजे महाराजे भगवान् महावीर के भक्तव्रती अथवा अव्रती श्रावक थे । इसके अलावा एक नाम और उल्लेखनीय है–वह है हेमांगद नरेश जीवंधर–जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

कूणिक की रानियों में पद्मावती, धारिणी और सुभद्रा प्रमुख थीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि उसने आठ राजकुमारियों से विवाह किया था, उदाई महारानी पद्मावती से उत्पन्न उसका पुत्र था, जो उसके बाद सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से राजधानी पाटलीपुत्र स्थानान्तरित की थी।

चेलना के सत्संग ने, संस्कारों ने कूणिक के मन में भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भर दी थी।

भगवान् महावीर के चम्पानगरी में आगमन की सूचना लाने वाले संवाददाता को वह एक लाख आठ हजार रजत मुद्राओं का प्रीतिदान दिया करता था।

कूणिक का वैशाली गणतंत्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ भीषण युद्ध हुआ था। उस युद्ध के कारण हुए नरसंहार में एक करोड़, अस्सी लाख लोग मारे गये थे। इस युद्ध में महाशिला कंटक युद्ध और रथमूसल संग्राम अधिक प्रसिद्ध हैं। छलबल से कूणिक ने वैभवशाली वैशाली में अपनी सेना के साथ प्रवेश कर उसके वैभवशाली भवनों को भंग कर दिया। वैशाली भंग होने के समाचार को सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राण त्याग कर दिये और वे देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

भगवती सूत्र और निरयावलिका में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से प्रमाणित हो जाता है कि युद्ध में आधुनिक युग के प्रक्षेपणास्त्रों और टैंकों से भी अति भीषण संहारकारक महाशिलाकंटक और रथमूसल अस्त्र थे।

महाशिला कंटक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय कूणिक की धाक चारों ओर जम गई थी। उसके समक्ष प्रतिरोध करने का साहस तत्कालीन नरेशों में से कोई भी नहीं कर सका। कूणिक अनेक देशों को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्त्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्त्र गुफा के द्वार पर दण्ड प्रहार किया। यहीं गुफा के द्वार-रक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुंकार की और कूणिक तत्काल वहीं भस्मसात् हो गया। मरकर वह छट्ठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का भक्त होते हुए भी वह तीव्र लोभ के उदय से पथभ्रष्ट

हुआ और तीव्र आसक्ति के कारण दुर्गति का अधिकारी बना । कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देखकर उसकी सेना भयभीत हो गई और चम्पा लौट आई ।

८ उदयिन :

कूणिक के उपरांत उसका पुत्र उदयिन (उदायी, अजउदायीं या उदयी-भट) सिंहासन पर आरूढ़ हुआ । वह भी चम्पा का शासक रह चुका था । जैन साहित्य में उसका वर्णन एक महान जैन नरेश के रूप में पाया जाता है । उसकी माता का नाम पद्मावती था । वह सुशिक्षित, सुयोग्य और वीर राजकुमार था । उदयिन ने ही पाटलिपुत्र नगर बसाया था और उसी ने राजागृह से अपनी राजधानी स्थानांतरित की थी । वह एक परम जैन भक्त था । एक शत्रु ने छल से उसकी हत्या कर दी । उसके बाद अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदशक या दर्शक आदि कुछ नरेश क्रमशः हुए । वे कुल परम्परानुसार प्रायः जैन धर्मानुयायी थे किन्तु शासन-काल अल्प रहने से गौण रहे ।

अन्य तत्कालीन नरेश :

कलिंग नरेश जितशत्रु और चंपा नरेश दधिवाहन सपरिवार भगवान् के परमभक्त, सुश्रावक एवं अपने समय के प्रतिष्ठा सम्पन्न नरेश थे । कौसलाधि-पति महाराज प्रसेनजित महावीर और गौतम बुद्ध का ही नहीं मक्खलि गोशाल आदि अन्य तत्कालीन श्रमण एवं ब्राह्मण धर्माचार्यो का भी समानरूप से आदर करते थे । कोल्लाग-संनिवेश के स्वामी कूलनृप ने, जो सम्भवतः भगवान् का सगोत्रीय था, उनको प्रथम आहारदान देकर पारणा कराया था । वसन्तपुर के राजा समरवीर, पावा के हस्तिपाल और पुण्यपाल, पलाशपुर के राजा विजय सेन और राजकुमार ऐमुंत्त, वाराणसी की राजकुमारी मुण्डिका, कौशाम्बी नरेश उदयन, दशार्ण देश के राजा दशरथ, पोदनपुर के विद्रराज, कपिलवस्तु के शाक्य वप्प (गौतम बुद्ध के चाचा) मथुरा के उदितोदय और अवंति-प्रभ तथा उनका राज्य-सेठ, पांचाल नरेश जय, हस्तिनापुर के भूपति शिवराज, तथा वहां के नगरसेठ पोत्तलि, पोत्तननगर के राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इत्यादि राजे महाराजे भग-वान् महावीर के भक्तव्रती अथवा अव्रती श्रावक थे । इसके अलावा एक नाम और उल्लेखनीय है–वह है हेमांगद नरेश जीवंधर–जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

महाराज जीवन्धर :

हेमांगद दक्षिण भारत के वर्तमान कर्नाटक राज्य का एक भाग था जिसकी राजधानी का नाम राजपुरी था और उस समय सत्यन्धर नामक जिन धर्म भक्त राजा वहां राज करता था। उसकी रानी विजया से उत्पन्न पुत्र का नाम जीवंधर था। इनका रोचक, रोमांचक एवं साहसिक चरित्र जैन साहित्यकारों में अत्यधिक लोकप्रिय रहा। इन पर अनेक रचनाओं का सृजन हुआ है। इनके पिता सत्यन्धर सज्जन पुरूष थे और इसी कारण दुष्ट मंत्री के षडयंत्र के शिकार हुए। देवयोग से गर्भवती रानी विजया को एक मयूरयंत्र में बैठाकर आकाश मार्ग से बाहर भेज दिया था जो कि एक श्मशान में उतरा और वहीं जीवन्धर का जन्म हुआ। संकटों की चिंता किये बिना रानी ने अपने पुत्र का लालन पालन किया। बड़ा होने पर जीवन्धर ने अपने पुरूषार्थ से अपना पैतृक राज्य पुनः प्राप्त किया। वर्षों तक राज्य किया और भोगोपभोगों का रसास्वादन भी किया। भगवान् महावीर का सम्पर्क मिलने पर सब कुछ त्याग कर मुनि व्रत धारण कर लिया।[1]

दश श्रावक :

उपासक दशांग-सूत्र में भगवान् महावीर के दश सर्वश्रेष्ठ साक्षात् उपासकों एवं परम भक्तों का वर्णन मिलता है। जो सब सद्गृहस्थ थे। और गृहस्थावस्था में रहते हुए ही धर्म का उत्तम पालन करते थे। ऐसे परम् भक्त श्रावकों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

१ गाथापति आनन्द :

गाथापति आनन्द वाणिज्य ग्राम का निवासी था। गांव में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान था। वह धर्म, समाज एवं राजनीति में भी कुशल था। राजा-सामन्तादि उससे परामर्श तो लेते ही थे किन्तु समस्याओं के समाधान हेतु उसके पास आया भी करते थे। आनन्द जनसेवा का कार्य भी निःस्वार्थ भाव से

राजपुरूषों का विवरण निम्नांकित ग्रंथों पर आधारित हैं :-

(१) प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं.

(२) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर.

(३) भगवान् महावीर : एक अनुशीलन.

करता था। उसकी पत्नी का नाम शिवानन्दा था। शिवानन्दा भी गुण शीला एवं धर्म में रुचि रखने वाली नारी थी। गाथापति आनन्द अपार सम्पत्ति का स्वामी था।

एक बार भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम के द्युतिपलाश उद्यान मे पधारे। भगवान् के आगमन का समाचार सुनकर राजा जितशत्रु एवं अपार मानव समूह भगवान् के दर्शनों के लिये चल पड़े। गाथापति आनन्द ने सुना तो उसका मनमयूर नाच उठा। वह भी अपने मित्र-स्वजन आदि को साथ लेकर भगवान् के समवसरण में पहुंचा और वन्दना करके धर्मोपदेश सुनने लगा।

भगवान् महावीर के त्याग और समता प्रधान उपदेश का आनन्द पर गहरा प्रभाव पड़ा और भगवान् महावीर के समक्ष उसने गृहस्थ धर्म के द्वादश व्रत ग्रहण कर लिये। जब वह प्रसन्नचित्त घर आया तो उसकी पत्नी ने प्रसन्नता का कारण जानना चाहा। आनन्द ने विस्तारपूर्वक सब कुछ बता दिया और यह भी बता दिया कि उसने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया है। शिवानन्दा, यह सब सुनकर गद्गद् हो गई। वह तो स्वभाव से ही धर्मशीला थी। उसने भी द्वादश व्रत ग्रहण किये। इस प्रकार आनन्द दम्पत्ति भगवान् महावीर के उपासक बन गये।

गृहस्थावस्था में रहते हुए ही आनन्द धर्म-ध्यान में तल्लीन रहता। एक दिन अपने घर का सब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर वह अकेला कोल्लाक-सन्निवेश में स्थित ज्ञात कुल की पौषधशाला में आ गया और सादा श्रमण जैसा परिधान पहनकर श्रमण की भांति जीवन व्यतीत करने लगा।

आनन्द को अवधि ज्ञान की उपलब्धि भी हुई थी। इस प्रसंग में भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को आनन्द के समक्ष खेद प्रकट भी करना पड़ा था। गौतम को आनन्द से क्षमा मांगनी पड़ी थी।

गाथापति आनन्द त्याग और अखंड आनन्द की अनुभूति करता हुआ बीस वर्ष तक श्रमणोपासक के रूप में जीवित रहा। अंत में समाधिपूर्वक प्रसन्नता से प्राणोत्सर्ग किये और वह सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान में उत्पन्न हुआ।

२ श्रावक कामदेव :

कामदेव चम्पानगरी का निवासी था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। कामदेव की दूर दूर तक प्रतिष्ठा थी। धन वैभव से सम्पन्न कामदेव को किसी बात की कमी नहीं थी।

एक बार भगवान् महावीर चम्पानगरी पधारे। राजा एवं प्रजाजन भगवान् की वंदना हेतु जाने लगे। कामदेव ने इस प्रकार जनता को जाते देख इसका कारण जानना चाहा तो उसे विदित हुआ कि भगवान् महावीर पधारे हुए हैं। भगवान् के आगमन का समाचार सुनकर उसका मन पुलकित हो उठा। वह भी भगवान् महावीर के समवसरण में जा पहुंचा।

भगवान् के समवसरण में चारों ओर समता-रस की धारा बह रही थी। भगवान् महावीर का त्याग एवं संयम युक्त प्रवचन पीयूष का पान-कर कामदेव ने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया।

एक दिन कामदेव ने घर का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और उसकी अनुमति लेकर स्वयं निवृत्त हो पौषधशाला में चला गया। पौषधशाला में भगवान् को वन्दना कर विशेष समाधि और ध्यान योग में लीन हो गया। ध्यान की स्थिरता में जब चेतना लीन हो गई तो वह शरीर का भान भी भूल गया। कायोत्सर्ग दशा में स्थित हो आत्मरमण करने लगा। यहीं कामदेव की परीक्षा भी हुई जिसमें वह सफल हुआ।

प्रातःकाल उसे शुभ समाचार मिला कि भगवान् महावीर चम्पा में पधारे हैं। कामदेव ने सर्वप्रथम भगवान् की सेवा में पहुंचकर उनकी वंदना की। भगवान् महावीर ने अपनी सभा में कामदेव को उपस्थित देखकर उसकी अविचल श्रद्धा की प्रशंसा की और रात्रि की घटना का वर्णन भी किया। साथ ही उन्होंने कहा कि गृहवास में रहने वाला श्रमणोपासक देव, मनुष्य और तिर्यन्च सम्बन्धी भयानक उपसर्गों में भी प्राणों की बाजी लगाकर अपनी धर्म-श्रद्धा में अविचल रहता है। इससे कामदेव की सभी प्रशंसा करने लगे।

कामदेव श्रावक जीवन के व्रतों में और भी प्रगतिशील बना और उसने क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। अंतिम समय में शुद्ध

भावनापूर्वक आलोचना प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्वक देहत्याग कर सौधर्म स्वर्ग में दिव्य ऋद्धिशाली देव बना।

३ श्रावक चुलनीपिता :

चुलनीपिता वाराणसी का एक अतिवैभव सम्पन्न गृहस्थ था। खेती, व्यापार गोपालन सभी कुछ था उसके पास। घर में सोने और अन्न के भण्डार भरे हुए थे। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। श्यामा विनम्र एवं सरल स्वाभावी थी। पति-पत्नी दोनों का चारों ओर सम्मान था।

एक बार भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वाराणसी पधारे। चुलनीपिता को जब भगवान् के आगमन का समाचार मिला तो वह भगवान् के दर्शनार्थ उनके समवसरण में पहुंच गया। भगवान् ने अपने प्रवचन में जीवन का महत्व बताते हुए धर्माचरण द्वारा उसे संस्कारित करने का मार्ग बताया। भगवान् ने अनगार धर्म एवं सागार धर्म का भी विवेचन किया। भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर चुलनीपिता ने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया और उसकी पत्नी श्यामा ने भी अपने पति का अनुसरण किया।

एक दिन उसने घर का सब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वयं निवृत्त हो पौषधशाला में आकर साधु की भांति रहकर धर्म-ध्यान में लग गया। अपने धर्म-ध्यान में उसे उपसर्गों को भी सहन करना पड़ा। वह धर्म-ध्यान में विचलित भी हुआ किन्तु अपनी दुर्बलता पर पश्चाताप करता हुआ व्रत-दोष की आलोचना की, अन्तःकरण की शुद्धि कर मन को फिर से निर्मल और सुदृढ़ बनाया।

धर्माराधना के पथ पर बढ़ते हुए चुलनीपिता ने ग्यारह श्रावक प्रतिमाओं का निर्दोष आराधन किया। अंत में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सौधर्म-कल्प में अरुणनाभ विमान में दिव्य ऋद्धि वाला देव बना।

४ श्रावक सुरादेव :

सुरादेव वाराणसी का निवासी था। उसके पास अपार धन खेती तथा गौधन था। उसकी पत्नी का नाम धन्या था। उसके तीन पुत्र थे। नगर में उसकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

एक वार भगवान् महावीर वाराणसी पधारे। सुरादेव कोष्ठक चैत्य में भगवान् के दर्शनार्थ गया। भगवान् की दिव्य वाणी सुनकर उसने श्रावक धर्म स्वीकार किया। पति की प्रेरणा से पत्नी धन्या ने भी श्रावक धर्म ग्रहण किया और धर्माराधना में लग गया।

एक दिन उनने घर का सब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में आकर श्रावक धर्म की साधना रूप स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिक्रमण-पौषध एवं कायोत्सर्ग में समय व्यतीत करने लगा।

अपनी धर्म-साधना में सुरादेव मायावी देव द्वारा छला गया। सुरादेव को अपनी भूल पर बड़ा पश्चाताप हुआ। अपनी भूल पर उसने पश्चाताप व आलोचना की। जीवन की अंतिम घड़ियों में वह पूर्ण विदेह भाव की साधना में रमण करने का प्रयास करता रहा। श्रावक प्रतिमाओं की आराधना करता हुआ अन्त में समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ और सौधर्म कल्प में समृद्धिशाली देव बना।

५ श्रावक चुल्लशतक :

चुल्लशतक आलंभिका नगरी का निवासी था और अपार धन-वैभव का स्वामी था। उसकी पत्नी का नाम वहुला था। वह बड़ी धर्म प्रिय और आदर्श पतिव्रता थी।

एक वार भगवान् महावीर आलंभिका नगरी पधारे। नागरिकों के साथ चुल्लशतक भी भगवान् के दर्शन करने गया। भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर उसने श्रावक के वारह व्रत ग्रहण किये। उसकी पत्नी भी श्राविका बन गई।

कुछ वर्ष वाद चुल्लशतक ने सब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और निवृत्ति लेकर एकांत में धर्म साधना में लीन हो गया। जैसा कि होता है— व्यक्ति जब पूर्ण निष्ठा के साथ यदि किसी शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसमें वाधायें आती ही हैं। चुल्लशतक के साथ भी ऐसा ही हुआ। वह भी धन और पुत्रों की माया में फंसकर छला गया। इस पर उसे पश्चाताप हुआ और अपनी कमजोरी को दूर करने का संकल्प कर पुनः धर्माराधना में जुट गया। उसने

ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। वीस वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन कर समाधिपूर्वक देह त्याग किया और सौधर्मकल्प में अरूण शिष्टदेव बना।

६ श्रावक कुण्डकौलिक :

कुण्डकौलिक गाथापति कम्पिलपुर का निवासी था। वह धनाढ्य तो था ही, नगर में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा और कीर्ति भी थी। गरीब और असहाय लोगों के लिये उसके घर के द्वार सदैव खुले रहते थे। उसकी पत्नी का नाम पुष्पा था जो उदार विचारों की रूपवती नारी थी।

एक बार भगवान् महावीर कम्पिलपुर पधारे। गाथापति कुण्डकौलिक उनके दर्शनार्थ गया और उपदेशामृत का पान कर श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किये। वह जिन प्रवचन में न केवल अत्यन्त श्रद्धालु ही था, किन्तु एक अच्छा तार्किक और वाक्पटु श्रावक रूप में भी वह प्रसिद्ध था।

अपनी धर्मसाधना में अपनी तार्किक बुद्धि से एक देव को भी उसने निरूत्तर कर दिया था। भगवान् महावीर जब कम्पिलपुर पधारे तो उन्होंने कुण्डकौलिक की इस साधना की सराहना की।

कुण्डकौलिक चौदह वर्ष तक श्रावक धर्म की निर्दोष आराधना करता हुआ धर्म साधना में प्रगतिशील बना। अंत में घर का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर पूर्ण रूप से निवृत्ति प्राप्त की और पौषधशाला में रहकर उसने ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। मासिक संलेखना की और पूर्ण समाधिभाव के साथ आयुष्य पूर्णकर सौधर्मकल्प में उत्पन्न हुआ।

७ श्रावक शकडालपुत्र :

शकडालपुत्र पोलासपुर का एक धनाढ्य कुंभकार था। उसके पास अपार धन सम्पदा थी। नगर में उसकी अच्छी प्रतिष्ठा और सम्मान था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। वह रूपवती के साथ ही शीलवती भी थी।

पोलासपुर में भगवान् महावीर के आगमन की सूचना देववाणी द्वारा पूर्व में ही मिल गई थी। भगवान् महावीर के पोलासपुर आने और सहस्राम्रवन में ठहरने की सूचना पाकर वह भी भगवान् की धर्मसभा में पहुंचा और वंदना कर उपदेशामृत पान करने लगा। प्रवचन समाप्ति पर भगवान् महावीर ने

शकडालपुत्र से देववाणी विषयक चर्चा की और इसके प्रभाव से उसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिये तथा जीवन में विविध प्रकार की मर्यादाओं को स्वीकार किया। घर आकर उसकी पत्नी को जब सब हाल सुनाया तो वह भी आनंदित हो उठी और भगवान् के दर्शन किये, देशना सुनी और फिर श्रावक के द्वादश व्रतों को ग्रहण किया।

अपनी धर्म साधना में एक बार वह असफल रहा। फिर पत्नी अग्निमित्रा की प्रेरणा से खोया हुआ धैर्य प्राप्त किया। मन में पत्नी के प्रति रहे अनुराग को दूर करते हुए मन को सुदृढ़ किया। ग्यारह प्रतिमाओं का आचरण करते हुए अंतिम समय में अनशन कर समाधिपूर्वक देह त्याग कर वह सौधर्म-कल्प में देवता बना।

८ श्रावक महाशतक :

महाशतक राजगृह का निवासी था। वह समृद्ध और प्रतिष्ठित गाथापति था। उसके तेरह पत्नियां थी, जिनमें रेवती प्रमुख थी। महाशतक विचारशील, धर्म प्रिय एवं शांत प्रकृति का गृहस्थ था। 'सादा जीवन उच्च विचार' में ही उसका विश्वास था।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे। महाशतक ने उनका धर्मोपदेश सुना और श्रावक के द्वादश व्रत स्वीकार किये। परिग्रह परिमाण करते समय रेवती आदि तेरह पत्नियों के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग किया। जीव-अजीव आदि तत्व का परिज्ञान कर वह संयम एवं श्रद्धापूर्वक जीवनयापन करने लगा।

स्वछन्द रूप से पति के साथ भोग की इच्छा से रेवती ने अपनी बारह सौतों को समाप्त कर दिया। रेवती के दुष्ट स्वभाव का कारण -- उसका मांस मदिरा सेवी होना था। मांस मदिरा के अधिक सेवन से उसकी प्रकृति और अधिक कामुक और क्रूर हो गई। एक बार राजा द्वारा प्राणी वध निषेध घोषित करने पर रेवती ने अपने ही गोकुल में से बछड़े मारकर खाने की व्यवस्था की। इससे बढ़कर उसकी मांस लोलुपता का उदाहरण और क्या हो सकता था

अंत में महाशतक को रेवती की दुष्टता का पता चल ही गया। उसे अपनी पत्नी से घृणा हो गई। उसने पत्नी को समझाने का प्रयास भी किया किन्तु

कहीं पके घड़े पर मिट्टी ठहरती है? वह नहीं मानी। महाशतक सांसारिक भोगों के प्रति उदासीन हो वह अपना अधिकांश समय धर्माराधना में ही व्यतीत करता था।

एक रात वह पौषधशाला में बैठा चिन्तन कर रहा था, तभी वहां रेवती आकर काम-याचना करने लगी। उसने हर प्रकार से महाशतक के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की किन्तु महाशतक प्रतिमा की भांति मौन बैठा रहा अंत में रेवती वापस चली गई। रेवती अपने प्रयासों में सफल नहीं हुई और अंत में मरकर रत्नप्रभा नरक के लौलुच्युत नरकावास में उत्पन्न हुई।

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर विहार करते हुए राजगृह पधारे और गौतम स्वामी को सम्बोधित कर कहा-- कि इस नगर में महाशतक श्रावक मारणांतिक संलेखना ग्रहण कर समाधिपूर्वक जीवन मरण के प्रति उदासीन हुआ धर्म साधना कर रहा है। वह बड़ा दृढ़धर्मी है किन्तु उसने इस संलेखना व्रत की उच्चतम स्थिति में एक अकल्पनीय कार्य कर डाला है। अपनी पत्नी रेवती के असद्व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसने अवधिज्ञान से जानकर एक सत्य तथ्ययुक्त होते हुए भी बहुत ही कटु, अप्रिय, अमनोज्ञ कथन किया है। जिसे सुनकर रेवती के हृदय को पीड़ा हुई। श्रावक को मारणांतिक संलेखना के समय ऐसा अमनोज्ञ कथन नहीं करना चाहिये। अतः तुम उसके पास जाओ और उसे सब समझाकर अपने कटुवचन के लिये आलोचना प्रायश्चित करने को तैयार करो।

गौतम स्वामी महाशतक के पास गये और सब कुछ स्पष्ट किया। महाशतक को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। उसने सरलता से गौतम स्वामी के सामने आलोचना की, प्रतिक्रमण किया और अपनी आत्मा को शुद्ध बनाया।

बीस वर्ष तक आत्म साधना करते हुए महाशतक ने समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये। वह सौधर्म के अरुणावतंसक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

९ श्रावक नन्दिनीपिता :

नन्दिनीपिता श्रावस्ती का निवासी था। स्वर्णमुद्राओं का धनी था और ४ गौव्रज का स्वामी था। नगर में उसकी अच्छी प्रतिष्ठा और सम्मान था। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था। पति-पत्नी दोनों ही भगवान् महावीर के निष्ठावान उपासक और व्रतधारी श्रावक थे।

शकडालपुत्र से देववाणी विषयक चर्चा की और इसके प्रभाव से उसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिये तथा जीवन में विविध प्रकार की मर्यादाओं को स्वीकार किया। घर आकर उसकी पत्नी को जब सब हाल सुनाया तो वह भी आनंदित हो उठी और भगवान् के दर्शन किये, देशना सुनी और फिर श्रावक के द्वादश व्रतों को ग्रहण किया।

अपनी धर्म साधना में एक बार वह असफल रहा। फिर पत्नी अग्निमित्रा की प्रेरणा से खोया हुआ धैर्य प्राप्त किया। मन में पत्नी के प्रति रहे अनुराग को दूर करते हुए मन को सुदृढ़ किया। ग्यारह प्रतिमाओं का आचरण करते हुए अंतिम समय में अनशन कर समाधिपूर्वक देह त्याग कर वह सौधर्म-कल्प में देवता बना।

८ श्रावक महाशतक :

महाशतक राजगृह का निवासी था। वह समृद्ध और प्रतिष्ठित गाथापति था। उसके तेरह पत्नियां थी, जिनमें रेवती प्रमुख थी। महाशतक विचारशील, धर्म प्रिय एवं शांत प्रकृति का गृहस्थ था। 'सादा जीवन उच्च विचार' में ही उसका विश्वास था।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे। महाशतक ने उनका धर्मोपदेश सुना और श्रावक के द्वादश व्रत स्वीकार किये। परिग्रह परिमाण करते समय रेवती आदि तेरह पत्नियों के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग किया। जीव-अजीव आदि तत्व का परिज्ञान कर वह संयम एवं श्रद्धापूर्वक जीवनयापन करने लगा।

स्वच्छन्द रूप से पति के साथ भोग की इच्छा से रेवती ने अपनी बारह सौतों को समाप्त कर दिया। रेवती के दुष्ट स्वभाव का कारण -- उसका मांस मदिरा सेवी होना था। मांस मदिरा के अधिक सेवन से उसकी प्रकृति और अधिक कामुक और क्रूर हो गई। एक बार राजा द्वारा प्राणी वध निषेध घोषित करने पर रेवती ने अपने ही गोकुल में से बछड़े मारकर खाने की व्यवस्था की। इससे बढ़कर उसकी मांस लोलुपता का उदाहरण और क्या हो सकता था

अंत में महाशतक को रेवती की दुष्टता का पता चल ही गया। उसे अपनी पत्नी से घृणा हो गई। उसने पत्नी को समझाने का प्रयास भी किया किन्तु

कहीं पके घड़े पर मिट्टी ठहरती है ? वह नहीं मानी । महाशतक सांसारिक भोगों के प्रति उदासीन हो वह अपना अधिकांश समय धर्माराधना में ही व्यतीत करता था ।

एक रात वह पौषधशाला में बैठा चिन्तन कर रहा था, तभी वहां रेवती आकर काम-याचना करने लगी । उसने हर प्रकार से महाशतक के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की किन्तु महाशतक प्रतिमा की भांति मौन बैठा रहा अंत में रेवती वापस चली गई । रेवती अपने प्रयासों में सफल नहीं हुई और अंत में मरकर रत्नप्रभा नरक के लौलुच्युत नरकावास में उत्पन्न हुई ।

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर विहार करते हुए राजगृह पधारे और गौतम स्वामी को सम्बोधित कर कहा-- कि इस नगर में महाशतक श्रावक मारणांतिक संलेखना ग्रहण कर समाधिपूर्वक जीवन मरण के प्रति उदासीन हुआ धर्म साधना कर रहा है । वह बड़ा दृढ़धर्मी है किन्तु उसने इस संलेखना व्रत की उच्चतम स्थिति में एक अकल्पनीय कार्य कर डाला है । अपनी पत्नी रेवती के असद्व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसने अवधिज्ञान से जानकर एक सत्य तथ्ययुक्त होते हुए भी बहुत ही कटु, अप्रिय, अमनोज्ञ कथन किया है । जिसे सुनकर रेवती के हृदय को पीड़ा हुई । श्रावक को मारणांतिक संलेखना के समय ऐसा अमनोज्ञ कथन नहीं करना चाहिये । अतः तुम उसके पास जाओ और उसे सब समझाकर अपने कटुवचन के लिये आलोचना प्रायश्चित करने को तैयार करो ।

गौतम स्वामी महाशतक के पास गये और सब कुछ स्पष्ट किया । महाशतक को अपनी भूल का ज्ञान हुआ । उसने सरलता से गौतम स्वामी के सामने आलोचना की, प्रतिक्रमण किया और अपनी आत्मा को शुद्ध बनाया ।

बीस वर्ष तक आत्म साधना करते हुए महाशतक ने समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये । वह सौधर्म के अरुणावतंसक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ ।

९ श्रावक नन्दिनीपिता :

नन्दिनीपिता श्रावस्ती का निवासी था । स्वर्णमुद्राओं का धनी था और ४ गौव्रज का स्वामी था । नगर में उसकी अच्छी प्रतिष्ठा और सम्मान था । उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था । पति-पत्नी दोनों ही भगवान् महावीर के निष्ठावान उपासक और व्रतधारी श्रावक थे ।

चौदह वर्ष तक उसने श्रावक धर्म का निर्दोष पालन किया। पन्द्रहवें वर्ष में उसने घर का सब भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपा और पौपधशाला में जाकर धर्म-आराधना में लीन हो गया। यहीं उसके मन में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का आचरण करने का संकल्प जागा। ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना में कुल ६६ माह लगते हैं। उसने यह कठोर तपश्चरण भी किया जिससे उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल और क्षीण हो गया।

अंत में एक माह की संलेखनापूर्वक देह छोड़कर वह सौधर्मकल्प के अरूण-गरण विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

१० श्रावक सालिहीपिता :

सालिहीपिता श्रावस्ती का निवासी था। वह बहुत ही ऋद्धि संपन्न और व्यवहारकुशल था। श्रावस्ती के ८ प्रमुख कोटिपतियों में उसकी गणना की जाती थी। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था। फाल्गुनी बड़ी धर्मशीला और पतिव्रता नारी थी।

एक बार भगवान् महावीर श्रावस्ती पधारे। नागरिकों के साथ सालिही-पिता भी उनके दर्शन करने गया। उपदेश सुनकर उसने बारह व्रतों को धारण किया। बाद में फाल्गुनी ने भी भगवान् की धर्मसभा में जाकर उपदेश सुना और श्रावक धर्म स्वीकार किया।

एक दिन अपने ज्येष्ठ पुत्र को सब भार सौंप कर वह पौषधशाला में आ गया और वहीं एकांत में विविध प्रकार से ध्यान प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि करता रहा उसने अनेक प्रकार की तपश्चर्याऐं भी की। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का आराधन किया। अंत में समाधिपूर्वक देह त्यागकर सौधर्मकल्प के अरुणकील विमान में देवता बना।

संदर्भ ग्रन्थादि की सूची

१. अभिधान चिंतामणि

२. अमरकोष

३. अंतगड़ दशा

४. आगमों में तीर्थंकर चरित्र - पं० श्री उदय मुनि

५. आचारांग सूत्र

६. आदिपुराण-जिनसेन

७. आवश्यक चूर्णि - जिनदास

८. आवश्यक निर्युक्ति - मलयगिरिवृत्ति

९. आवश्यक हारिभद्रीय

१०. आवश्यक भाष्य

११. उत्तरपुराण - आ. शुभचन्द्र

१२. उत्तरपुराण - गुणभद्राचार्य

१३. उत्तराध्ययन

१४. उत्तराध्ययन - सुखबोध

१५. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर - आ० श्री हस्तीमलजी म०

१६. ऋषभदेव : एक अनुशीलन - प्रथम एवं द्वितीय संस्करण
—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

१७. कल्पलता

१८. कल्पद्रुमवलिका

१९. कल्पसूत्र - पुण्यविजय जी

२०. कल्पसूत्र - किरणावली

२१. चउपन्न महापुरिस चरियं - शीलांकाचार्य
२२. चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण - श्री राजेन्द्र मुनि
२३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
२४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति - वृत्ति
२५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति - श्री अमोलक ऋषि
२६. जैनागम स्तोक संग्रह - श्री मगनलालजी म०
२७. जैन धर्म - मुनि श्री सुशीलकुमारजी म०
२८. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग - १ आ० श्री हस्तीमलजी म०
२९. जैन कथा माला भाग २, ३, ५ श्री मधुकर मुनि
३०. जैन साहित्य संशोधक
३१. ठाणांग सूत्र
३२. तत्वार्थ सूत्र
३३. तिलोय पण्णत्ति
३४. तीर्थंकर चरित्र भाग १, २, ३, श्री रतनलाल डोशी
३५. तीर्थंकर महावीर - श्री मधुकर मुनि व अन्य
३६. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
३७. दशवैकालिक सूत्र - अगस्त्य चूर्णि
३८. दशवैकालिक निर्युक्ति
३९, निरयावलिका
४०. पउम चरियं
४१. पार्श्वनाथ चरित्र - मालदेव
४२. पार्श्वनाथ चरितम् - हेमविजयगणि
४३. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं - डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन
४४. भगवती शतक
४५. भगवती सूत्र

४६. भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण - श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
४७. भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन - श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
४८. भगवान् महावीर का आदर्श जीवन - जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म०
४९. भारतीय सृष्टि विद्या-डॉ. प्रकाश
५०. महापुराण - जिनसेनाचार्य
५१. महावीर चरित्रं - गुणचंद्र
५२. महावीर चरित्र - नेमिचंद्र
५३. वासुदेव हिण्डी - खण्ड १ भाग २
५४. शब्दरत्न सम० कोष
५५. श्रीमद्भागवत - गोरखपुर
५६. सत्तरिसयद्वार
५७. समवायांग - मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'
५८. समवायांग
५९. सर्वार्थ सिद्धि
६०. सिद्धांत संग्रह
६१. सिरिपासणाह चरियं - देवभद्रसूरि
६२. स्थानांगसूत्र वृत्ति
६३. स्थानांग सूत्र - मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल'
६४. हरिवंशपुराण
६५. ज्ञाताधर्म सूत्र
६६. ज्ञाताधर्म कथा

"जयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्यों की नामावली"

अनु. क्र.	नाम	निवास	वतन
वंश-परम्परागत सदस्य :			
१.	श्रीमान् सुगनचन्दजी प्रेमचन्दजी श्रीमाल	रायपुर [म. प्र.]	सियाट
२.	,, लालचन्दजी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड़
३.	,, मांगीलालजी चम्पालालजी गोटावत	बैंगलोर	सोजत सीटी
४.	,, जबरचन्दजी रतनचन्दजी बोहरा	मद्रास	कुचेरा
५.	,, मिश्रीलालजी लूणकरणजी नाहर	लखनऊ	कुचेरा
६.	,, जवरीमलजी सज्जनराजजी बोहरा	बैंगलोर	ब्यावर
७.	,, नेमीचन्दजी प्रेमचन्दजी खींचा	बैंगलोर	ब्यावर
८.	,, सुगालचन्दजी सिंघवी	मद्रास	सियाट
आजीवन :			
१.	श्रीमान् फूलचन्दजी लूणिया	बैंगलोर	पिपलिया
२.	,, भवँरलालजी विनायकिया	मद्रास	करमावास [पट्टा]
३.	,, रणजीतमलजी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
४.	,, पन्नालालजी सुराणा	मद्रास	कालाउना
५.	,, लालचन्दजी डागा	मद्रास	रायपुर
६.	,, भंवरलालजी गोठी	मद्रास	ब्यावर
७.	,, रिधकरणजी बेताला	मद्रास	कुचेरा
८.	,, मोहनलालजी चोरड़िया	मद्रास	नागौर

९.	श्रीमान् अमोलकचन्दजी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१०.	,, राजमलजी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड़
११.	,, कपूरचन्दजी भाई	मद्रास	सौराष्ट्र
१२.	,, सम्पतराजजी सिंघवी	रायपुर	सियाट
१३.	,, फतेहचन्दजी कटारिया	बैंगलोर	देवलीकलाँ
१४.	,, भंवरलालजी डूंगरवाल	मद्रास	करमावास [मांलिया]
१५.	,, पारसमलजी सांखला	बैंगलोर	सांडिया
१६.	,, मोतीलालजी मूथा	बैंगलोर	रास
१७.	,, जुगराजजी बरमेचा	मद्रास	अटवड़ा
१८.	,, नथमलजी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१९.	,, केवलचन्दजी वापना	मद्रास	आगेवा
२०.	,, रिखबचन्दजी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२१.	,, मोहलालजी कोठारी	विरंचीपुरम्	विरांटिया
२२.	,, भानीरामजी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२३.	,, चांदमलजी कोठारी	बैंगलोर	रायपुर
२४.	,, धनराजजी बोहरा	बैंगलोर	ब्यावर
२५.	,, जंगलीमलजी भलगट	भंडारा	रीयां
२६.	,, झूमरमलजी भलगट	भंडारा	रीयां
२७.	,, हस्तीमलजी वणिगगोता	बैंगलोर	दासपा
२८.	,, रंगलालजी रांका	पट्टाभिराम	कुशालपुरा
२९.	,, प्राणजीवन भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३०.	,, रसिकलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३१.	,, शांतिलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३२.	,, रजनीकान्त भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३३.	,, जवाहरलालजी बोहरा	रत्नागिरी	रीयां
३४.	,, हीरालालजी बोहरा	रॉबर्टसनपेट	ब्यावर

३५.	श्रीमान् जैवन्तराजजी लूणिया	मद्रास	चंडावल
३६.	,, जबरचन्दजी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
३७.	,, पुखराजजी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
३८.	,, गजराजजी मेहता	मद्रास	सत्यपुर
३९.	,, मीठालालजी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४०.	,, भीखमचन्दजी गादिया	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४१.	,, पारसमलजी बोहरा	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४२.	,, चम्पालालजी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४३.	,, भेरुलालजी बोहरा	उत्तकोटा	सत्यपुर
४४.	,, जुगराजजी चौपड़ा	मद्रास	सत्यपुर
४५.	,, मोतीलालजी चौपड़ा	उत्तकोटा	सत्यपुर
४६.	,, मांगीलालजी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४७.	,, धर्मचन्दजी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४८.	,, माणकचन्दजी मूथा	मद्रास	सत्यपुर
४९.	,, भीखमचन्दजी बोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५०.	,, जबरचन्दजी बोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५१.	,, जैवंतराजजी गादिया	मद्रास	सत्यपुर
५२.	,, सेंसमलजी सेठिया	बैंगलोर	कंटालिया
५३.	,, किशनलालजी मकाणा	दोड़बालापुर	हाजीवास
५४.	,, लूणकरणजी सोनी	भिलाई	
५५.	,, भंवरलालजी कोठारी	ब्यावर	खांगटा
५६.	,, लालचंदजी श्रीश्रीमाल	ब्यावर	गिरी
५७.	,, मिश्रीमलजी छाजेड़	बैंगलोर	बलाड़ा
५८.	,, सम्पतराजजी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
५९.	,, शांतिलालजी सांखला	तिरुवेलोर	सांडिया
६०.	,, हस्तीमलजी गादिया	मद्रास	सांडिया

६१.	,,	दुलीचन्दजी चौरडिया	मद्रास	नोखा
६२.	,,	इन्द्रचन्द्रजी सिंघवी	मद्रास	सिंयाट
६३.	,,	पारसमलजी बागचार	मद्रास	कुचेरा
६४.	,,	जवाहरलालजी चौपड़ा	अमरावती	पीपाड़
६५.	,,	शांतिलालजी गांधी	बम्बई	पीपाड़
६६.	,,	देवीचन्दजी सिंघवी	मद्रास	सिंयाट
६७.	,,	रतनलालजी बोहरा	केलशी	पीपाड़
६८.	,,	पारसमलजी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
६९.	,,	पूसालालजी कोठारी	खांगटा	खांगटा
७०.	,,	अमरचन्दजी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
७१.	,,	दीपचन्दजी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
७२.	,,	केवलचन्दजी कोठारी	मद्रास	खांगटा
७३.	,,	चैनमलजी सुराणा	मद्रास	कुचेरा
७४.	,,	जुगराजजी कोठारी	मद्रास	खजवाणा